

मेरे
प्रिय निबन्ध

महादेवी जी के अत्यंत प्रिय
अपने ही निबंधों का संग्रह



नेशनल
पब्लिशिंग

हाउस

२३, दरियागंज, नयी दिल्ली-११०००२

मोरे प्रिय
विषय
महादेवी

नेशनल पब्लिशिंग हाउस
२३, दरियागंज, नयी दिल्ली-११०००२

घाराण
घौड़ा रास्ता, जयपुर
३४, नेताजी सुभाष मार्ग, इलाहाबाद-३

ISBN 81—214—0025—2

मूल्य : ४०.००

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, २३, दरियागंज, नयी दिल्ली-११०००२ द्वारा प्रकाशित /
द्वितीये संस्करण : १९८६ / संपादितार : श्रीमती महादेवी वर्मा / सरस्वती प्रिंटिंग
प्रेस, ए-६५,

सेक्टर-५, नोएडा-२०१३०१ में मुद्रित ।

[387 2(08B-04PB)786/N]

MERE PRIYA NIBANDH (Essays) by Mahadevi Verma

Price : Rs 40 00

यह सत्य है कि कविता और गद्य एक उत्साह से उत्पन्न होते हैं, किंतु उनकी दिशाएं एक नहीं रहती। एक को मनुष्य की आध्यात्मिका वृत्ति को जागृत करना है और दूसरे को उसकी वृद्धि को प्रियाशील बनाना है।

निबन्ध-क्रम

| | |
|--------------------------------|-----|
| मपनी बात | ६ |
| संस्कृति का प्रश्न | १५ |
| साहित्यकार : व्यक्ति और समष्टि | २० |
| छायावाद | ३२ |
| रहस्यवाद | ६३ |
| भीति-काव्य | ८४ |
| समाज और व्यक्ति | १०४ |
| हमारा देश और राष्ट्रभाषा | ११६ |
| भाषा का प्रश्न | १२४ |
| जीने की कला | १२७ |

अपनी बात

निबन्ध को अंग्रेजी के ऐसे (Essay) का पर्याय माना जाता है, किन्तु इन दोनों में पर्याप्त अंतर है। अंग्रेजी का 'ऐसे' फ्रांसीसी शब्द एसाई से उत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ किसी विषय पर गद्य में सहज, लघु और मुक्त साहित्यिक रचना है। ऐसी रचना में मुक्त निजीपन विशेष गुण है। इसके विपरीत निबन्ध जो नि + बन्ध + ल्युट प्रत्यय से बना है, अपने नाम में ही बंधन का संकेत देता है। जो सीमित विचार को क्रमबद्धता में बाधता है वह निबन्ध है और जो वैचारिक विस्तार को प्रकृष्ट रूप से बाधता है वह प्रबंध कहा जाएगा।

विचारों तथा तर्कों की सरणियों की क्रमबद्धता भारत के प्राचीन साहित्य में ही प्रारंभ हो गई थी। ब्राह्मण ग्रंथ, उपनिषद्, दर्शन आदि में तर्कों का जैसा उपयोग हुआ है, वह सरिलिप्त रूप से वैचारिक, बौद्धिक तथा भावात्मक समृद्धि देता है और इस समृद्धि में बिखराव रोकने के लिए क्रमबद्धता स्वाभाविक ही नहीं, अनिवार्य है।

प्रत्येक निबन्ध में संग्रहित होने के लिए जो सामंजस्य आवश्यक होता है वह लेखक के निजीपन, बौद्धिक क्रिया तथा निरीक्षणमूलक अनुभूति का सम्मिश्रित प्रतिफलन है।

सामान्यतः निबन्ध का, वर्णनात्मक, विवेचनात्मक, विचारात्मक, भावात्मक आदि में जो वर्गीकरण किया गया है उसमें विभाजक रेखाएँ ऐसी कठिन नहीं हैं कि एक को दूसरे में अनुस्यूत होने से रोक सकें। वर्णनात्मक में भाव का स्पर्श न हो या भावात्मक में विचार का प्रवेश न हो, यह असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। संभवतः इसका कारण मनुष्य का वह मानसिक गठन है, जिसमें एक प्रवृत्ति के प्रधान हो जाने पर भी अन्य प्रवृत्तियाँ शीघ्र रहकर उसमें सहयोग करती रहती हैं।

मेरे विचार में निबन्ध का वर्गीकरण विषय से अधिक शैली पर निर्भर है जो लेखक की निजता से संचय रखती है।

आधुनिक युग में निबन्ध-लेखन का ज्ञान-विज्ञान की अनेक दिशाओं में प्रवेश और विस्तार हुआ है, अतः उमें नवीन तन्त्रों के उद्घाटन में भी प्रतिष्ठा मिल गई है। प्रत्येक विद्वत् सम्मेलन में ज्ञान के गभीर विषय पर नयी शोध संबंधी पत्रक पढ़े जाते हैं तथा वे वादविवाद के साधन बनते थे। ये निबंध साहित्यिक न होने पर भी अपनी रूप-रेखा में साहित्य का सहयोग लेते हैं।

इनके अतिरिक्त साहित्यिक निबंधों में एक अधिक सहज, स्वच्छद विधा का भी विकास हुआ है जिसे ललित निबंध के नाम से जाना जाता है। आधुनिक युग में आलोचना का जैसा विविध रूपी विकास हुआ है, उमें भी आलोचनात्मक निबंध को नवीन मनोविश्लेषक पृष्ठभूमि दी है।

इस प्रकार आधुनिक युग में साहित्य की अन्य विधाओं से अधिक निबंध का उपयोग तथा विस्तार हो रहा है। शिक्षक, विद्यार्थी, शोधकर्ता, दार्शनिक, वैज्ञानिक, समाजशास्त्री आदि सभी इस विधा के माध्यम से ही अपनी मान्यताएँ व्यक्त करते हैं। ऐसी स्थिति में निबंध को एक सर्वस्वीकृत स्थिति प्राप्त हो चुकी है।

निबंध प्राचीन युगों में भी साहित्य में सीमित नहीं रहा और आज तो उसे साहित्यिक प्रतिष्ठा देने के लिए लेखकों को विशेष प्रयत्न करना पड़ेगा, अन्यथा वह समाचार-पत्रों के पृष्ठों को भरकर भी उन्हीं के समान पुराना होकर खो जाएगा। रिपोर्ताज, दैनिकी, समाचार-लेखन आदि भी गभीर निबंधों में अधिक आकर्षक रूप में प्रस्तुत किए जा रहे हैं क्योंकि समाचार-पत्रों की लोकप्रियता उन पर निर्भर है।

साहित्यिक निबंध एक विशिष्ट वर्ग में आते हैं अतः उनका प्रसार भी सीमित रहना स्वाभाविक है।

'गद्य कवीना निकप वदन्ति' कहकर विद्वानों ने गद्य को कविता की कसौटी मान लिया है और कसौटी तो किसी मूल्यवान् धातु के खरे-खोटेपन की जाच के लिए होने के कारण धातु से अधिक महत्त्व की होती है।

मेरे विचार में कविता अपनी अभिव्यक्ति के लिए शब्दों के उचित चयन पर निर्भर रहती है जो शिल्प है। शब्दों का काव्यानुकूल चयन तभी समभव है जब कवि किसी भाषा के शब्दकोश, उसमें प्रयुक्त शब्द-शक्तियों, मर्मियों आदि का ज्ञान रखता हो। कविता किसी भाषा का फूल है, जिसमें उक्त भाषा की रंगमयता, रस, सौंदर्य, पराग आदि मिलकर ही उसे उल्लास का केंद्र बना देते हैं। रसास्वाद के लिए भाषा की अंतरंग छवि को बहिरंग बनाना आवश्यक हो जाता है। इस कार्य के लिए गद्य का समर्थ लेखन कवि का विशेष गुण मान लिया जाये तो उमें अनुचित नहीं कहा जा सकता।

सत कवियों ने मधुककड़ी भाषा का प्रयोग किया है, किंतु उसे लोकमानस

के निकटलाने के लिए लोकभाषा की सभी भंगिमाओं को उन्होंने स्वीकार किया है। लौकिक प्रतीकों द्वारा अलौकिक तत्त्व को जनमानस में पहचाना अपने आप में एक चमत्कार है और इसे सभ्य करने वाले सतों का लोकमानसिकता तथा लोकभाषा दोनों पर अधिकार होना स्वाभाविक है।

गोस्वामी तुलसीदास तथा प्रज्ञाचक्षु मूर का अवधी और ब्रजभाषा का ज्ञान असीम और अथाह है।

आधुनिक युग के कवियों का गद्यलेखन भी गद्य को कविता का निकट प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है।

अपने गद्य के लिए कुछ कहना मेरे लिए कठिन है, परंतु गद्यलेखन की ओर अभिरुचि के लिए मैं अपने बाल्यकाल तथा प्रारंभिक विद्यार्थी जीवन के शिक्षकों की आभारी हूँ।

समस्यापूर्ति जैसे विषय के साथ लेख लिखने की बाध्यता न होने पर मेरी प्रवृत्ति उम दिशा में होती, ऐसा मेरा विश्वास है।

कविता ने जैसे मेरी अनुभूति को गहराई दी है, गद्य ने उसी प्रकार मेरे बोध को व्यापक क्षितिज दिया है। गद्य में अपने स्मरण, यात्रा-वर्णन आदि को मैं निजीपन से युक्त ललित साहित्य ही मानती हूँ, क्योंकि उम पर भाव का एक झीना बादल छाया रहता है। उममें मेरी अपनी पहचान भी है और दूसरों की भी।

निवध मेरे अध्ययन-अध्यापन आदि का परिणाम है, जिन्होंने मैं तर्क तथा क्रमबद्धता का उपयोग करने का अवकाश पा जाती हूँ। बाल्यकाल में पढ़ाने वाले गुरु एक ही विषय पर दस दस बार तब तक लिखवाते रहते थे, जब तक उनको पूर्ण सतोष न हो जाता था। मैं भी आज जब अपने विद्यार्थियों को ऐसा दंड देती हूँ तब अनायास अपने गुरु का स्मरण हो आता है।

मेरी सहानुभूति ने मुझे समाज के दलित-पीड़ित व्यक्तियों के सादारण्य की शक्ति देकर ऐसी जीवनदृष्टि दे दी है, जिससे मेरे लेखन को आलोक मिलता है।

आज के लेखन में जो भीगे हुए यथार्थ का प्रश्न उठाया जाता है वह तर्क की कसौटी पर ठहरने में असमर्थ ही सिद्ध होगा।

अनेक वर्ष पहले मैंने जो यथार्थ और आदर्शों की विवेचना की थी वह आज भी सत्य है। एक ही परिस्थिति सब में एक-सी प्रतिक्रिया नहीं उत्पन्न करती, अतः व्यक्ति का भोगा हुआ यथार्थ सीमित तथा वैयक्तिक ही रहेगा। परंतु मानव मन की क्या कुछ भिन्न है। शिला कण-कण में टूटकर भी जल में नहीं मिल पाती। इसके विपरीत जल की बूद भी समुद्र में मिल कर समुद्र हो जाती है। बाह्य परिस्थिति की प्रतिक्रिया प्रत्येक मन पर भिन्न होगी, किंतु मन की प्रतिक्रिया दूसरे मन पर वही होगी, यह मनोवैज्ञानिक सत्य है।

सकृर्स्त का प्रश्न

दीर्घनिवाय मे मनुष्य के क्रमश उन्नति और अवनति की ओर जाने के सबध मे कहा हुआ यह वाक्य आज की स्थिति से विचित्र माम्य रखता है—

'उन लोगो मे एक दूसरे के प्रति तीव्र क्रोध, तीव्र प्रतिहिंसा, तीव्र दुर्भावना और तीव्र हिंसा का भाव उत्पन्न होगा। माता मे पुत्र के प्रति, पुत्र मे माता के प्रति, भाई मे बहिन के प्रति, बहिन मे भाई के प्रति, भाई मे भाई के प्रति तीव्र क्रोध, तीव्र प्रतिहिंसा, तीव्र दुर्भावना और तीव्र हिंसा का भाव उत्पन्न होगा, जैसे मृग को देखकर व्याध मे तीव्र क्रोध, तीव्र प्रतिहिंसा, तीव्र दुर्भावना और तीव्र हिंसा का भाव उत्पन्न होता है। वे एक-दूसरे को मृग समझने लगेंगे। उनके हाथो मे पैंने शस्त्र होग। वे उन तीक्ष्ण शस्त्रो से एक-दूसरे को नष्ट करेंगे। तब उन सत्वो के वागे मे कुछ सोचेंगे 'न मुझे औरो से काम न औरो को मुझसे काम, अत चलकर घने तृण-वन-वृक्षो मे या नदी के दुर्गम तट पर या ऊचे पर्वत पर वन के फल-फूल खाकर रहा जावे।' फिर वे घने तृण वृक्षो मे या नदी के दुर्गम तट पर या ऊचे पर्वत पर वन के फल फूल खाकर रहेंगे। एक सप्ताह वहा रहने के पश्चात् वे घने से निकल कर एक-दूसरे का आलिंगन कर एक-दूसरे के प्रति शुभकामनाएं प्रकट करेंगे। (चक्रवर्ति सिंहनाद सुक्त ३।३)

उपर्युक्त कथन के प्रथम अंश की सत्यता तो हमारे जीवन में साधारण हो गई है, परंतु दूसरे अंश की सत्यता का अनुभव करने के लिए संभवत हमें इससे कठिन अग्नि-परीक्षा पार करनी होगी।

आज जब शस्त्रो की झनझनाहट मे जीवन का संगीत विलीन हो चुका है, विद्वेष की काली छाया मे विक्रम का पथ खोना जा रहा है, तब सस्कृति की चर्चा क्या जैसी लगे तो आश्चर्य नहीं। परंतु जीवन के साधारण नियम मे विद्वान् रहने वाला यह जानता है कि मघन से सपन बादल भी आकाश बन जाने की क्षमता नहीं रखता, वज्रपात का कठोर मे कठोर शब्द भी स्थायी हो

जाने की क्षमता नहीं रखता। जब मनुष्य का आत्मघाती आवेग शांत हो जावेगा, तब जीवन के विकास के लिए मृज्जनीय तत्त्वों की खोज में, सांस्कृतिक चेतना और उसकी अभिव्यक्ति के विविध रूप महत्त्वपूर्ण सिद्ध होंगे।

संस्कृति की विविध परिभाषाएँ संभव हो सकती हैं, क्योंकि यह विकास का एक रूप नहीं, विभिन्न रूपों की ऐसी समन्वयात्मक समष्टि है, जिसमें एक रूप स्वतः पूर्ण होकर भी अपनी साधकता के लिए दूसरे का सापेक्ष है।

एक व्यक्ति को पूर्णतया जानने के लिए जैसे उसके रूप, रंग, आकार, बोलचाल, विचार, आचरण आदि में परिचित हो जाना आवश्यक हो जाता है, वैसे ही किसी जाति की संस्कृति को मूलतः समझने के लिए उसके विकास की सभी दिशाओं का ज्ञान अनिवार्य है। किसी मनुष्य-समूह के साहित्य, कला, दर्शन आदि के सचित ज्ञान और भाव का ऐश्वर्य ही उसकी संस्कृति का परिचायक नहीं, उस समूह के प्रत्येक व्यक्ति का साधारण शिष्टाचार भी उसका परिचय देने में समर्थ है।

यह स्वाभाविक भी है क्योंकि संस्कृति जीवन के बाह्य और आंतरिक सकारों का क्रम ही तो है और इस दृष्टि से उसे जीवन को सब ओर में स्पर्श करना ही होगा। इसके अतिरिक्त वह निर्माण ही नहीं, निर्मित तत्त्वों की खोज भी है। भौतिक तत्त्व में मनुष्य प्राणितत्त्व को खोजता है, प्राणितत्त्व में मनस्तत्त्व को खोजता है और मनस्तत्त्व में तर्क तथा नीति को खोज निकालता है, जो उसके जीवन को समष्टि में साधकता और व्यापकता देते हैं। इस प्रकार विकास-पथ में मनुष्य का प्रत्येक पग अपने आगे सृजन की निरंतरता और पीछे अथक अन्वेषण छिपाये हुए है।

साधारणतः एक देश की संस्कृति अपनी बाह्य रूपरेखा में दूसरे देश की संस्कृति से भिन्न जान पड़ती है। यह भिन्नता उनके देश-काल की विशेषता, बाह्य जीवन, उनकी विशेष आवश्यकताएँ तथा उनकी पूर्ति के लिए प्राप्त विशेष साधन आदि पर निर्भर है, आंतरिक प्रेरणाओं पर नहीं। बाहर की विभिन्नताओं को पार कर यदि हम मनुष्य की संस्कार-चेतनाओं की परीक्षा करें, तो दूर-दूर बसे मानव-समूहों में आश्चर्यजनक साम्य मिलेगा। जीवन के विकास सबंधी प्रश्नों के सुलझाने की विधि में अंतर है, परंतु उन प्रश्नों को जन्म देने वाली अंतःचेतना में अंतर नहीं।

यह प्रश्न स्वाभाविक है कि जब अनेक प्राचीन संस्कृतियाँ लुप्त हो चुकी हैं और अनेक नाश के निकट जा रही हैं तब संस्कृति को विकास का क्रम क्यों माना जावे!

उत्तर सहज है—निरंतर प्रवाह का नाम नदी है। जब गिरावट से घेरकर उसका बहना रोक दिया गया, तब हम उसे बाढ़े पोखर कहें चाहे झील,

किंतु नदी के नाम पर उसका कोई अधिकार नहीं रहा ।

संस्कृति के सबंध में यह और भी अधिक सत्य है, क्योंकि वह ऐसी नदी है, जिसकी गति अनंत है । वह विशेष देश, काल, जलवायु में विकसित मानव-समूह की व्यक्त और अव्यक्त प्रवृत्तियों का परिष्कार करती है और उस परिष्कार से उत्पन्न विशेषताओं को सुरक्षित रखती है ।

इस परिष्कार का क्रम अबाध और निरंतर है, क्योंकि मनुष्य की प्रवृत्तियां चिरतन हैं, पर मनुष्य अजर-अमर नहीं । एक पीढ़ी जब अतीत के बोहरे में छिप जाती है तब दूसरी उसका स्थान ग्रहण करने के लिए आलोक-पथ में आती है । यह नवीन पीढ़ी मानव-सामान्य अतश्चेतना की अधिकारी भी होती है और अपने पूर्ववर्तियों की विशेषताओं की उत्तराधिकारी भी, परंतु इन सबका उपयोग उसे बदली हुई परिस्थितियों में करना पड़ता है । अनायास प्राप्त वैभव का ज्ञान यदि उसे गर्व से विक्षिप्त बना देता है तो उसका गतव्य ही खो जाता है, और यदि एक निश्चित शिथिलता उत्पन्न कर देता है तो उसकी गाथा ही समाप्त हो जाती है । महान और विकसित संस्कृतियां इसलिए नहीं नष्ट हो गईं कि उनमें स्वभावतः क्षय के कीटाणु छिपे हुए थे, वरन् असारीरी होते-होते इसलिए विलीन हो गईं कि उनकी प्राण-प्रतिष्ठा के लिए जीवन कोई आधार ही नहीं दे सका । प्रकृति के अणु-अणु के सबंध में मितव्ययी मनुष्य ने अन्य मनुष्यों के असीम परिश्रम से अर्जित ज्ञान का कैसा अपव्यय किया है, यह कहने की आवश्यकता नहीं ।

भारतीय संस्कृति का प्रश्न अन्य संस्कृतियों से कुछ भिन्न है, वह अतीत की वैभव-कथा ही नहीं, वर्तमान की करुण गाथा भी है । उसकी विविधता प्रत्येक अध्ययनशील व्यक्ति को कुछ उलझन में डाल देती है । संस्कृति विकास के विविध रूपों की समन्वयात्मक समष्टि है और भारतीय संस्कृति विविध संस्कृतियों की समन्वयात्मक समष्टि है । इस प्रकार इसके मूल तत्त्व को समझने के लिए हम अत्यधिक उदार, निष्पक्ष और व्यापक दृष्टिकोण की आवश्यकता रहती है ।

परिवर्तनशील परिस्थितियों के बीच में जीवन को विकास की ओर ले जाने वाली किसी भी संस्कृति में आदि से अंत तक एक विचारधारा का प्राधान्य स्वाभाविक नहीं । फिर भारतीय संस्कृति तो शताब्दियों को छोड़ सहस्राब्दियों तक व्याप्त तथा एक कोने में सीमित न रहकर बहुत विस्तृत भू-भाग तक फैली हुई है । उसमें एक सीमा से दूसरी सीमा तक, आदि से अंत तक एक ही धारा की प्रधानता या जीवन का एक ही रूप मिलता रहे, ऐसी आशा करना जीवन को जड़ मान लेना है । भारतीय संस्कृति निश्चित पथ से बाढ़ छाटकर निवाली हुई नहर नहीं, वह तो अनेक स्रोतों को साथ ले अपना तट बनाती और पथ निश्चित करती हुई बहने वाली खोलखनी है । उसे अघवार-भरे गतों में

उत्तरना पडा है, ढालो पर विछलना पडा है, पर्वन जैसी बाधाओं की परिक्रमा कर मार्ग बनाना पडा है; पर इम लंबे क्रम में उमने अपनी समन्वयात्मक शक्ति के कारण अपनी मूल धारा नहीं सूखने दी। उसका पथ विषम और टेढ़ा-मेढ़ा रहा है, इसी से एक घुमाव पर खड़े होकर हम शेष प्रवाह को अपनी दृष्टि से ओझल कर सकते हैं; परंतु हमारे अनदेखा कर देने से ही वह अविच्छिन्न प्रवाह खंड-खंड में नहीं बट जाता।

जीवन की मूल चेतना से उत्पन्न ज्ञान और कर्म की दो प्रमुख धाराएं भिन्न-भिन्न दिशाओं में विकास पाते रहने पर भी ऐसी समीप हैं कि एक के साध्य बन जाने पर दूसरी साधन बनकर उसके निकट ही रहती है। कभी इनमें से एक की प्रधानता और कभी दूसरी की और कभी दोनों का समन्वय हमारे जीवन को विविधता देता रहता है। अनेक सिद्धांत हमारे जीवन के समान ही पुराने हैं। उदाहरण के लिए हम वर्तमान युग की अहिंसा को ले सकते हैं, जिससे पिछले अनेक वर्षों से हमारे राष्ट्रीय जागरण को विशेष नैतिक बल मिलता आ रहा है। एक बड़े संघर्ष और निराशा के युग के उपरांत वैष्णव धर्म ने भी इसी सिद्धांत का प्रतिपादन किया था। उसके पहले महाभारत काल का अनुसरण करने वाले युग में बुद्ध ने भी। इस सिद्धांत का मूल हमें उपनिषद् ही नहीं, वेद के 'मा हिंस्यात् सर्वं भूतानि' में भी मिलता है। यज्ञ के लिए हिंसा के अनुमोदकों के साथ-साथ हमें अहिंसा के समर्थकों का स्वर भी सुनाई पड़ता है। ब्राह्मण काल में इन दोनों विचारधाराओं की रेखाएं कुछ-कुछ स्पष्ट होने लगती हैं और यज्ञ धर्म से आत्म-विद्या को उच्च स्थान देने वाले उपनिषद् काल में वे निश्चित रूप पा लेती हैं। अन्य विचारधाराओं के सबंध में भी ऐतिहासिक अनुसंधान कुछ कम ज्ञानवर्द्धक न होगा।

बुद्ध द्वारा प्रतिपादित धर्म के साथ भारतीय संस्कृति में एक ऐसा पट-परिवर्तन होता है, जिसने हमारे जीवन की सब दिशाओं पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ा और दूसरे देशों की संस्कृति को भी विकास की नयी दिशा दी। उसमें और वैदिक संस्कृति में विशेष अंतर है। वैदिक संस्कृति हमारी संस्कृति का उपक्रम न होकर किसी विशाल संस्कृति का अंतिम चरण है और बौद्ध संस्कृति विषम परिस्थितियों के भार से दबे जीवन का संपूर्ण प्राण-प्रवेग है, जिसने सभी बाधाएं तोड़कर बाहर आने का मार्ग पा लिया। एक में शक्ति का गर्व है, सृजन का ओज है; पर अपनी भूलों के ज्ञान से उत्पन्न नम्रता नहीं है, दूसरों की दुर्बलता के प्रति समवेदना नहीं है। दूसरे में मनुष्य की दुर्बलता के परिचय से उत्पन्न सहानुभूति है, जीवन के दुःखबोध-जनित करुणा है; परंतु शक्ति का प्रदर्शन नहीं है, निर्माण का अहंकार नहीं है।

जो नरक भारतीय जीवन का सत्य बन चुका है, ऋग्वेद का ऋषि उसका

नाम-गता। नहीं जानता। जिस नारी की कल्पना मात्र से भारतीय साधक कपित होते रहे हैं, ऋग्वेद के पुरुष को उससे कोई भय नहीं है। जिस दुखवाद ने भारतीय जीवन को इतना घेर रखा है, ऋग्वेद का मनीषी उसके मबध में कुछ कहता-मुनता नहीं। इसके विपरीत बौद्ध सस्कृति का मनुष्य, रामायण काल की मतर्क परिणति और महाभारत के सघर्ष का उपसहार पार कर आया है, दुख, असफलता, पराजय आदि से विशेष परिचित हो चुका है और जीवन के अनेक कटु अनुभवों से बुद्धिमान बन चुका है।

इसी से वैदिक सस्कृति अपनी यथार्थता में भी आदर्श के निकट है और बौद्ध सस्कृति अपनी बौद्धिकता से भी अधिक यथार्थान्मुखी है। एक प्रवृत्ति प्रधान और दूसरी अपरिग्रही है, परंतु दोनों विकास की ओर गतिशील हैं। आज की परिस्थितियों में अपने जीवन को स्वस्थ गति देने के लिए सास्कृतिक विकास के मूल तत्त्वों को समझना ही पर्याप्त न होगा, उनका समन्वयात्मक शक्ति को ग्रहण करना भी आवश्यक है।

✓ सस्कृति के सबध में हमारी ऐसी धारणा बन गई है कि वह निरंतर निर्माण क्रम नहीं, पूर्ण निर्मित वस्तु है, इसी से हम उसे अपने जीवन के लिए बठोर साथी बना लेते हैं। इस भ्रांति ने हम जीवन के मूल तत्त्वों को नवीन परिस्थितियों के साथ किसी सामजस्यपूर्ण सबध में रखने की प्रेरणा ही नहीं दी। हम तो अतीत के ऐसे कृपण उत्तराधिकारी हैं, जो दया भाग में से कुछ भी अपने ऊपर व्यय नहीं कर सकता और सतर्क पहरेदार बना रहने में ही कर्तव्य की पूर्ति मानता है।

✓ जीवन जैसे आदि से अंत तक निरंतर सृजन है, वैसे ही सस्कृति भी निरंतर सस्कार-क्रम है। विचार, ज्ञान अनुभव, कर्म आदि क्षेत्रों में जब तक हमारा सृजन-क्रम चलता रहता है, तब तक हम जीवित हैं। 'जीवन पूर्ण हो गया' का अर्थ उसका समाप्त हो जाना है। सस्कृति के सबध में भी यही बात सत्य है। परंतु विकास की किसी स्थिति में भी जैसे शरीर और अतर्जगत के मूलतत्त्व नहीं बदलते, उसी प्रकार सस्कृति के मूल तत्त्वों का बदलना भी संभव नहीं।

आज की सर्वग्रामी परिस्थिति में यदि हम अपने जीवन का क्रम अटूट रखना चाहे, तो अपनी सास्कृतिक चेतना को मूलतः समझना और उसकी समन्वयात्मक प्रवृत्ति को सुरक्षित रखना उचित होगा। सैंकड़ों फीट नीचे भू-गर्भ में, गहरी गुफाओं में या ऊंची-ऊंची शिखारों में मिले हुए अतीत संभव तक ही हमारी सस्कृति सीमित नहीं, वह प्रत्येक भारतीय के हृदय में भी स्थापित है। हमारी खोज किसी मृत जाति के जीवन-चिह्नों की खोज नहीं, जीवित उत्तराधिकारी के लिए उसके पैतृक धन की खोज है और यह उत्तराधिकारी प्रत्येक भोपड़ी के कोने में उसे पाने को उत्कण्ठित बैठा है △

साहित्यकार :

व्यक्ति और समष्टि

मृजन की दृष्टि से व्यक्तिगत होने पर भी साहित्य अपने रचनाकार के अनुरजन मात्र तक सीमित नहीं रहता ।

जिस प्रकार भाषा में वक्ता और श्रोता दो की स्थिति स्वयंसिद्ध है, उसी प्रकार साहित्य में दूररा पक्ष अतनिहित है ।

प्रत्येक युग और प्रत्येक देश में साहित्य की उत्कृष्टता की कसौटी उसकी व्यापकता ही मानी गई है और यह व्यापकता स्वयं व्यक्तिगत रुचिर्वैचित्र्य का निपेक्ष है । मनुष्य एक विशेष सामाजिक परिवेश में उत्पन्न होता है । कुछ संस्कार उसे अपने परिवेश से उत्तराधिकार में प्राप्त होते हैं और कुछ उसके मधुर-कटु अनुभवों से बनते हैं । उसके कुछ व्यक्तिगत स्वार्थ होते हैं और कुछ समष्टिगत दायित्व, जिन्हें वह सामाजिक प्राणी होने के नाते स्वीकार करता है । व्यक्तिगत स्वार्थ और समष्टिगत स्वार्थों में संघर्ष की संभावना जिस सीमा तक कम होती जाती है, उसी सीमा तक हम किसी समाज को और उसके सदस्यों को सस्कृत कहते हैं ।

✓ मनुष्य की महानता उसके दायित्व की विशालता का पर्याय है, क्योंकि ऐसे व्यक्ति का स्वार्थ समाज विशेष के स्वार्थ में ही लय नहीं हो जाता, वरन् मानव-समष्टि के स्वार्थ या हित से एकाकार हो जाता है ।

✓ मनुष्य केवल प्राण-सवेदनयुक्त जीव ही नहीं है, वह असंख्य मानसिक संभावनाओं तथा सवेदन के विविध स्तरों का सघात है । बुद्धि की सचेतन प्रक्रिया और अतः करण की प्रवृत्तियों में सामंजस्य लाने का सचेतन प्रयास तथा उसमें आनंद की अनुभूति उसकी अपनी विशेषता है, जो उसे शेष जीवसृष्टि से भिन्न कर देती है ।

केवल शारीरिक यात्रा के साधन तथा आत्मरक्षण की सहज चेतना उसमें अन्य प्राण-सवेदनयुक्त जीवों के समान होना स्वाभाविक है । परंतु अपनी स्थिति से असंतोष, अज्ञात स्थिति विषयक जिज्ञासा, अनुभूत तथ्यों के

आधार पर सर्वथा अनुभूत सत्यो तक पहुँचने का प्रयास, प्रयास में आनन्दमयी स्थिति की परिकल्पना, अप्राप्त लक्ष्य में आस्था आदि विशेषताओं के कारण ही वह विशिष्ट है।

अपनी इस विकासनिष्ठ क्रिया को अबाध रखने के लिए वह अपने बौद्धिक और मानसिक स्वरों का संगठन तथा सशोधन नये-नये प्रकारों से करता आ रहा है। अपने सहज प्राप्त परिवेश से ही संचालित न होकर वह उम पर अपने अतर्जगत को भी प्रतिफलित करता चलता है। इस प्रकार उसकी गति से भौतिक विश्व की एक मानसी सृष्टि भी होती आ रही है।

दर्शन, धर्म, विज्ञान, कला, साहित्य सभी ने जीवन के इस दोहरे विकास में योग दिया है। पर मनुष्य की व्यक्ति और समष्टिनिष्ठ तथा बुद्धि और भाव-निष्ठ अभिव्यक्तियाँ साहित्य की अधिक ऋणी हैं।

जीवन को समग्रता से स्पर्श करने के कारण तथा बुद्धि और अतर्करण की विभिन्न वृत्तियों को सरिलिप्त करने की क्षमता के कारण साहित्य सहज ही मनुष्य के रहस्य का उद्गीय बन गया है।

यह तो सर्वस्वीकृत है कि साहित्य-सृजन का कार्य ऐसे व्यक्ति कर पाते हैं, जिन्हें उनके परिवेश तथा बुद्धि-अतर्करण की वृत्तियों ने उपयुक्त साधनों से सपन्न कर दिया है। वे न अमानव हैं न अतिमानव, प्रत्युत, विकास के ऐसे विदु-पर सामान्य मानव हैं कि जीवन और परिवेश में अव्यक्त हलचल भी उनकी अनुभूति में व्यक्त हो जाती है। साहित्य को चाहे किसी ने जीवन का अनु-करण माना हो चाहे कल्पना-स्रष्टि, चाहे जीवन-नीति का संचालक कहा हो चाहे सौंदर्य-बोध मात्र, परंतु उसके स्रष्टा की विशिष्ट प्रतिभा को सभी ने स्वीकार किया। केवल अभ्यास से उत्कृष्ट साहित्य-सृजन संभव है, यह आज का वैज्ञानिक युग भी स्वीकार नहीं करता, अन्य अतीत युगों की चर्चा ही व्यर्थ है।

ऐसी स्थिति में साहित्य को व्यक्तिगत रुचि मात्र मान लेना उसके युगातर-व्यापी प्रभाव को अस्वीकार करना है।

साहित्य विशेष व्यक्तित्व का परिणाम है, इसी अर्थ में उसे व्यक्तिगत कहा जा सकता है, परंतु इस अर्थ में मानसिक ही नहीं भौतिक विकास भी चस्तुनिष्ठ रहेगा।

विकास के रहस्यमय क्रम में एक वस्तु विकसित होकर विकसित करती है और इसी प्रकार विकास की परंपरा अबाध चलती हुई विकास का मानदंड निर्मित करती है।

अपने सृजन से साहित्यकार स्वयं भी बनता है, क्योंकि उममें नये संवेदन जन्म लेते हैं, नया सौंदर्यबोध उदय होता है और नये जीवन-दर्शन की उप-

लब्धि होती है। सारांश यह कि वह जीवन को दृष्टि से समृद्ध होता जाता है। इसी से साहित्य-मृष्टि का लक्ष्य 'स्वात सुखाय' का विरोधी नहीं हो सकता। पर यह क्रिया अपने कर्त्ता को बनाने के साथ-साथ उसके परिवेश को भी बनाती चलती है, क्योंकि समष्टि में इन्हीं नवीन संवेदनो, सौंदर्य-बोधो और विश्वासों का स्फुरण होता रहता है।

फूल का विकास अपनी ही रूप-रंग-रसमयता नहीं है, क्योंकि वह अपनी मिट्टी और परिवेश का संयोजन, संबर्द्धन भी करता है। पौधा मिट्टी, घूप, पानी आदि नहीं बनाता, परंतु इनकी सम्मिलित शक्तियों का रसायन ग्रहण कर स्वयं बनाता और उसे व्यक्त करके अपने परिवेश को नवीन रूप-रंग-रसमय बनाता है।

मूर्तिकार न पाषाण बनाता है न छेनी का लोहा। वह केवल प्राकृतिक उत्पादनो और उनकी शक्तियों को संयोजित कर अपनी मानसी मृष्टि को साकार और प्रत्यक्ष कर स्वयं सतोष पाता तथा समष्टिगत परिवेश का संबर्द्धन करता है।

संगीतकार भी स्वरो का और तारो की धातु का सृजन नहीं करता। चित्रकार भी प्रकृति में बिखरी रंग-रेखाओ का स्रष्टा नहीं है। नृत्यकार भी गति का सृजन नहीं करता। शिल्पी पाषाण में अव्यक्त आकारो को व्यक्त आकार देकर, चित्रकार प्रत्यक्ष रंग-रेखाओ के संयोजन में किसी अंतर्निहित सामजस्य को अवतार देकर और नृत्यकार विश्व में व्याप्त गति को जीवन की विविध चेष्टाओ में छंदायित कर जो सृजन करता है, वह व्यक्ति-सीमित नहीं हो सकता, क्योंकि न माध्यम व्यक्तिनिष्ठ है और न बौद्धिक प्रक्रियाएं और मानसिक वृत्तियां केवल उसकी हैं। इसी से मनुष्य की अव्यक्त संभावनाएं तथा संवेदन किसी न किसी बिंदु पर सबके हो जाते हैं और सबके हो जाने में ही उनकी कृतार्थता है।

व्यक्ति से जिस सत्तागत अभिव्यक्ति अथवा अस्तित्वगत विशेषता का बोध होता है वह भौतिक जगत से अधिक सबद्ध है, परंतु ज्यो-ज्यो हम उसके भीतर प्रवेश करते हैं त्यो-त्यो ये कठिन रेखाएं गल-गलकर तरल होने लगती हैं। दो पक्ष भी समान नहीं हैं, पर दो मनुष्य आकृति में भिन्न होकर भी संवेदन के एक स्तर पर समान हैं।

इस मूलगत एकता के कारण ही साहित्यिक उपलब्धियां कालांतरव्यापिनी हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में साहित्य के स्रष्टा मात्र ही उसके उपभोक्ता कैसे माने जा सकते हैं! जीवन के परिष्कार और परिवर्तन के हर अध्याय में साहित्य के चिह्न हैं, अतः उसे व्यापक सामाजिक कर्म न कहना अन्याय होगा। पर जब हम उसे विशेष सामाजिक कर्म मान लेते हैं, तब यह समस्या मानसिक क्षेत्र से उतरकर सामाजिक धरती पर प्रतिष्ठित हो जाती है और उसका समाधान नये रूप में उपस्थित होता है।

यदि विशेष सामाजिक कर्म व्यक्ति का समष्टि को दान है तो वह दान देने वाले और पाने वाले के मानसिक तथा भौतिक परिवेश के अनुसार ही कम या अधिक महत्त्व पाता है। परंतु यह स्वीकार कर लेने पर कि साहित्यमृजन व्यक्तिगत रुचि मात्र न होकर महत्त्वपूर्ण सामाजिक कर्म है, साहित्यकार की समस्या सामाजिक प्राणी की ओर विशेष कार्यक्षम सामाजिक सदस्य की समस्या हो जाती है।

समाज केवल भीड़ का पर्याय नहीं होता। 'ममाना अजति' समान सचरण-शील व्यक्ति-समूह ही समाज है। इन व्यक्तियों में, व्यक्तिगत स्वार्थ की समष्टिगत रक्षा के लिए अपने विषम आचरण में साम्य उत्पन्न करने वाले समझौते की स्थिति अनिवार्य रहेगी। व्यक्ति और व्यक्ति के स्वार्थों में संघर्ष की संभावना ज्यों ज्यों घटती जाती है, त्यों-त्यों व्यक्ति का परिवेश समष्टि के परिवेश तक फैलता जाता है और पूर्ण विकसित समाज में व्यक्ति के सर्कीण परिवेश की कल्पना ही कठिन हो जाती है। मनुष्य अपनी क्रियाशीलता को समाज को निवेदित कर देता है और अपने इस समर्पण से वह स्वयं एक विशाल और निरंतर सृजन का अक्षभूत हो जाता है। पर स्वस्थ समाज में व्यक्ति की क्रियाशक्ति की स्वाभाविक परिणति जीवन के उत्तरोत्तर विकास की सुविधा ही रहती है। जब ऐसा तारतम्य नहीं रहता, तब ऐसी विच्छिन्न क्रिया कभी विद्रोह का पर्याय मानी जाती है और कभी अपराध की सजा पाती है।

स्वयं को शासित रखने के लिए समाज एक लिखित विधि निषेधमय विधान रखता अवश्य है, पर वह संचालित ऐसे अलिखित विधान से होता है, जो परंपरा, रुचि, आस्था, सस्कार, मनोराग आदि का सश्लिष्ट योगदान है। पूर्ण से पूर्ण समाज भी व्यक्ति के जीवन को सब ओर से घेर नहीं सकता, क्योंकि मानव स्वभाव का बहुत-सा अंश समाज की विधि-निषेधमयी सीमा रेखा के बाहर मुक्त और उसकी दृष्टि से ओझल रहता है।

मनुष्य के जीवन का जितना अंश नीति, शिक्षा, आचार आदि सामाजिक सहिताओं के सम्पर्क में आता है, उतना ही समाज द्वारा शासित माना जाएगा। समाज यदि मनुष्यों के समूह का नाम नहीं है तो मनुष्य भी केवल क्रियाओं का सघात नहीं है। दोनों के पीछे सामूहिक तथा व्यक्तिगत इच्छा, हर्ष, विपाद आदि की प्रेरणा रहती है। आचरण को सेना के समान कवायद सिखा देता ही जीवन नहीं है, वरन् कर्म को प्रेरित करने वाले मनोविकारों के उद्गम खोजकर उनमें विकास की अनुकूलता पा लेना जीवन का लक्ष्य है।

साहित्य का उद्देश्य समाज के अनुशासन से बाहर स्वच्छंद मानव-स्वभाव में, उसकी मुक्ति को अधुण्य रखते हुए समाज के लिए अनुकूलता उत्पन्न करना है। साहित्य एक ओर विधि-निषेध से बाहर उड़ने वाले मानव-मन को समष्टि

से बाधकर उसकी निरुद्देश्य उड़ान को धाम नेता है और दूररी ओर समाज की दृष्टि से ओम्न मानव-स्वभाव की विविधताओं को उसके सामने प्रस्तुत कर सामाजिक मूल्यांकन को समृद्ध करता है ।

इस प्रकार निर्वंघ कुछ बंध जाता है और वद्ध के बंधन कुछ सिधिल हो जाते हैं ।

मनुष्य को अपने लिए विशेष वातावरण ढूढने नहीं जाना पडता । वह एक विशेष परिवेश में जन्म लेकर अपने विकास के साथ-साथ सामाजिक संस्थाओं से परिचित और अनुशासित होता चलता है । जैसे उसे मांस के लिए वायु अनायास मिल जाती है, उसी प्रकार समाज का दान भी अयाचित और अनजाने ही उसे प्राप्त हो जाता है ।

जब तक वह अपने आपको जानने की स्थिति में पहुंचता है, तब तक समाज उसे एक साचे में ढाल चुकता है । परंतु यदि मनुष्य अपने इमी निर्माण से संतुष्ट हो सके तो उसमें और जड में अंतर ही क्या रहेगा !

वह दर्जी के गिले कपडों के समान समाज के विधि-निषेध को धारण कर लेता है और तब उनके तग या ढीले होने पर, सुंदर या कुरूप होने पर संतुष्ट-असंतुष्ट होता है ।

यह सतोष-असतोष समाज के शासन की परिधि में नहीं आता, पर साहित्य इसी का मूल्यांकन करता है । दूररे शब्दों में समाज के दान की जहा इति है, साहित्य का अर्थ उभी बिंदु से चलता है । अतः साहित्यकार का बर्म अन्य कर्मों को तोलने वाले तुला और बाटो में नहीं तुल्य सकता ।

अन्य क्षेत्रों में समाज अपने सदस्यों की श्रियाशक्ति को अपने अधीन कर उनकी प्रतिभा और कुशलता के अनुमार उनका कार्य निश्चित कर देता है तथा उसके प्रतिदान में उन्हें जीवन-यात्रा की सुविधाएं प्रदान करता है ।

दोनों पक्षों का आदान-प्रदान इतने स्थूल धरातल पर स्थित है कि उसकी उपयोगिता के विषय में किसी सदेह का अवकाश कम रहता है ।

भारी पैना तलवार गढने वाले लौहकार के कार्य का महत्व भी समाज जानता है और हल्की अगूठी में रत्नों की बारीक जडाई करने वाले स्वर्णकार की कुशलता का मूल्य भी उसमें छिपा नहीं है ।

कष्ट-लभ्य वस्तुओं का ऋय-विश्रय करने वाले ध्यापारी की प्रत्यक्ष योजना का भी उसे ज्ञान है और मंदिर में मौन जप करने वाले पुजारी की अप्रत्यक्ष रचना में भी उसका विद्वास है ।

न्यायासन पर दड-पुरस्कार का वितरण करने वाले न्यायाचार्य के कार्य के विषय में उसे सदेह नहीं है और समाज की नयी पीढी को परपरानुसार शात, दात बनाने में लगे हुए शिक्षा-शास्त्री के कार्य का भी उसके पास लेखा-जोखा है ।

समाज ने इन विविध कार्यों को, अधिकारी व्यक्तियों को, स्वयं सौंपा है। और उन कर्त्तव्यों के विषय में एक परंपरागत शास्त्र भी पूर्व निश्चित है। वे कैसे करते हैं, यह दूसरा प्रश्न है, परंतु 'वे क्या करें' और क्या न करें के विषय में द्विविधा नहीं है।

कठिन दंड के पात्र को दंड कम मिले या न मिले, मतभेद का विषय हो सकता है, परंतु दंड-भुक्ति-विधान समाज-स्वीकृत है और न्याय का कार्य समाज द्वारा किसी को सौंपा गया है।

प्रत्येक सामाजिक सस्था समाज का अंग है और वह मनुष्य के जीवन के उन्हीं अंशों से संबद्ध रहती है, जिन पर समाज की सत्ता है।

मानव-स्वभाव का जो अंश समाज के विधि-निषेध की परिधि से बाहर अस्तित्व रखता है, उसके लिए सामाजिक सस्था नहीं बनाई जा सकती, पर उस तक समष्टि के सुख दुःखों की अनुभूति पहुंचाकर उसे समाजो-मुक्त किया जा सकता है।

परंतु यह कार्य बड़ी शक्ति कर सकता है, जिसे समाज के सौंदर्य और विरूपता, सुख और दुःख की व्यष्टिगत पर तीव्र अनुभूति होती है। समाज अन्य क्षेत्रों के समान इसके हाथ में कोई विधि निषेध शास्त्र देकर नहीं कह सकता। 'मैं तुम्हें कवि, नाटककार कथाकार आदि के कर्त्तव्य पर नियुक्त करता हूँ, तुम मेरे विधान के स्थायित्व के लिए कार्य करो।'

वस्तुतः समाज किसी साहित्यकार के अतर्जगत की हलचल से परिचित तब होता है जब वह अभिव्यक्ति पा लेती है। 'इम अभिव्यक्ति से पहले अनुभावक की शक्तियों से और उसकी अनुभूति की तीव्रता से समाज अपरिचित रहता है और यह अपरिचित एक सीमा तक व्यक्ति और समाज को दो परस्पर विरोधी पक्षों में भी खड़ा कर सकता है।

साहित्य समाज की अपराजेय शक्ति है, पर क्या उसी प्रकार निर्भर पर्वत की अपराजेय शक्ति नहीं है?

क्या पर्वत की शक्ति होने के कारण उसे उसकी कठोर शिलाओं से सघर्ष नहीं करना पड़ता? पर्वत से सर्वथा अनुकूल स्थिति रखने के लिए तो प्रपात को जमकर शिलापित होना पड़ेगा।

सतान का जन्म माता की पीड़ा का भी जन्म है। इसी प्रकार साहित्य भी समाज में, समाज के लिए निर्मित होकर भी उसमें कोई उद्वेलन, कोई असंतोष उत्पन्न करता ही है। ऐसी स्थिति में समाज साहित्य को सामाजिक और श्रेष्ठ सामाजिक कर्म के रूप में स्वीकार न करे तो आश्चर्य की बात नहीं।

जिस युग में समाज की दबी हलचलें उसके अन्य क्षेत्रों में भी कुछ असंतोष

उत्पन्न करने लगती हैं, उनमें साहित्य सहज नेतृत्व प्राप्त कर लेता है; परंतु जिन युगों में समाज के अवचेतन मन पर जड़ता का स्तर कठिन हो जाता है, उनमें साहित्य को या तो स्वयं भी जड़ता का स्तर ओढ़ लेना पड़ता है या अकेले जूझना ।

साहित्य के समष्टिगत लक्ष्य से व्यक्ति-वैचित्र्य की संगति नहीं बैठती ।

लक्ष्यतः साहित्य जीवन के मूल्यों का सरक्षक, परीक्षक, सशोधक तथा आत्मीय प्रेषक रहता है । ऐसी स्थिति में व्यक्ति-वैचित्र्य मात्र उसके सचेदन की प्रेषणीयता के मार्ग में अवरोध ही सिद्ध होगा ।

परंतु कभी-कभी साहित्यकार की भावित मानसी मृष्टि के सौंदर्य से उसका युग इतना अपरिचित रहता है कि उसे आत्मीयता नहीं दे पाता और परिणामतः उसे व्यक्ति-वैचित्र्य कहकर मुक्ति पा लेता है ।

भवभूति ने ऐसी ही दुर्बल स्थिति को 'उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपिसमानधर्मा' कहकर व्यक्त किया है ।

समग्र तथा सश्लिष्ट जीवन लक्ष्य होने के कारण ही साहित्य किसी एकाकी लक्ष्य से सबद्ध होकर सीमित हो जाता है, परंतु इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह जीवन के किसी भी क्षेत्र के मूल्यों का विरोधी है △

हमारे वैज्ञानिक युग की समस्या

निकट की दूरी हमारे वैज्ञानिक युग की अनेक विशेषताओं में सामान्य विशेषता बन गई है। जड़ वस्तुओं में समीपता स्थिति मात्र है, विकास के किसी सचेतन क्रम में प्रतिफलित होने वाला आदान प्रदान नहीं। एक दिशा दूसरी पर गिरकर उसे तोड़ सकती है, एक वृक्ष दूसरे के समीप रहकर उसे छाया दे सकता है, पर ये सब स्थितियाँ उनका पारस्परिक आदान-प्रदान नहीं कहो जाएगी, क्योंकि वह तो चेतना ही का गुण है।

मनुष्य की निकटता की परिणति उस साहचर्य में होती है, जो बुद्धि को बुद्धि से भिन्नाकर, अनुभव को अनुभव में लय करके, समष्टिगत बुद्धि को अभेद और समष्टिगत अनुभव को समृद्ध करता है। आधुनिक युग अपने साधनों से दूरति-दूर को निकट लाकर स्थिति मात्र उत्पन्न करने में समर्थ है, जो अभेद बुद्धि और अनुभवों की सगति के बिना अपूर्ण होने के साप-भाय जीवन-क्रम में बाधक भी हो सकती है।

उदाहरणार्थ, पथ के सहयोगी भी एक-दूसरे के समीप होते हैं, और युद्ध-भूमि पर परस्पर विरोधी सैनिक भी, परन्तु दोनों प्रकार के सामीप्य परिणामतः विपरीत भिन्न हैं। पहली स्थिति में एक दूसरे की रक्षा के लिए प्राण तक दे सकता है और दूसरी समीपता में एक-दूसरे के बचाव के सारे साधन नष्ट कर देने नष्ट करना चाहता है। हमारे मस्तक पर आकाश में उमड़ता हुआ बादल और उमड़ता हुआ बमकणक गान दोनों ही हमारे समीप कहे जाएँ, परन्तु स्थिति एक होने पर भी परिणाम विद्वद् ही रहेंगे। जिनके साथ मन शकारहित नहीं हो सकता, उनकी निकटता सघर्ष की जननी है। इसी से आज के युग में मनुष्य पाय है, परन्तु मनुष्य का सकाकुल मन पास आने वालों से दूर होना जा रहा है। स्वस्थ आदान प्रदान के लिए मनो की निकटता पहली आवश्यकता है। हमारे विज्ञान और त्रिविधता-भरे देश की प्रतिभा ने अपनी विकास-यात्रा के प्रथम प्रहर में ही जीवन की तत्त्वगत एकता का ऐसा सूत्र खोज लिया

उत्पन्न करने लगती हैं, उनमें साहित्य सहज नेतृत्व प्राप्त कर लेता है; परंतु जिन युगों में समाज के अवचेतन मन पर जड़ता का स्तर कठिन हो जाता है, उनमें साहित्य को या तो स्वयं भी जड़ता का स्तर ओढ़ लेना पड़ता है या अकेले जूझना ।

साहित्य के समष्टिगत लक्ष्य से व्यक्ति-वैचित्र्य की संगति नहीं बैठती ।

लक्ष्यतः साहित्य जीवन के मूल्यों का संरक्षक, परीक्षक, संशोधक तथा आत्मीय प्रेषक रहता है । ऐसी स्थिति में व्यक्ति-वैचित्र्य मात्र उसके सवेदन की प्रेषणीयता के मार्ग में अवरोध ही सिद्ध होगा ।

परंतु कभी-कभी साहित्यकार की भावित मानसी मृष्टि के सौंदर्य से उसका युग इतना अपरिचित रहता है कि उसे आन्मीयता नहीं दे पाता और परिणामतः उसे व्यक्ति-वैचित्र्य कहकर मुक्ति पा लेता है ।

भवभूति ने ऐसी ही दुर्बल स्थिति को 'उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि स मानधर्मा' कहकर व्यक्त किया है ।

समग्र तथा सश्लिष्ट जीवन लक्ष्य होने के कारण ही साहित्य किसी एकाकी लक्ष्य से सबद्ध होकर सीमित हो जाता है, परंतु इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह जीवन के किसी भी क्षेत्र के मूल्यों का विरोधी है △

हमारे वैज्ञानिक युग की समस्या

निक्ट की दूरी हमारे वैज्ञानिक युग की अनेक विशेषताओं में सामान्य विशेषता बन गई है। जड़ वस्तुओं में समीपता स्थिति मात्र है, विकास के किसी सचेतन क्रम में प्रतिफलित होने वाला आदान प्रदान नहीं। एक शिला दूसरी पर गिरकर उसे तोड़ सकती है, एक वृक्ष दूसरे के समीप रहकर उसे छाया दे सकता है, पर ये सब स्थितियाँ उनका पारस्परिक आदान-प्रदान नहीं करती जाएँगी, क्योंकि वह तो चेतना ही का गुण है।

मनुष्य की निक्टता की परिणति उस साहचर्य में होती है, जो बुद्धि की बुद्धि से मिनाकर, अनुभव की अनुभव में लय करके, समष्टिगत बुद्धि की अभेद और समष्टिगत अनुभव की समृद्ध करता है। आधुनिक युग अपने साधनों में दूरत-दूर की निक्टता मात्र स्थिति मात्र उत्पन्न करने में समर्थ है, जो अभेद बुद्धि और अनुभवों की सगति के बिना अपूर्ण होने के साथ-साथ जीवन-क्रम में बाधक भी हो सकती है।

उदाहरणार्थ, पथ के सहयात्री भी एक-दूसरे के समीप होते हैं, और युद्ध-भूमि पर परस्पर विरोधी सैनिक भी, परंतु दोनों प्रकार के सामीप्य परिणामतः किनारे निम्न हैं ! पहली स्थिति में एक दूसरे की रक्षा के लिए प्राण तक दे सकता है और दूसरी समीपता में एक-दूसरे के बचाव के सारे साधन नष्ट कर उसे नष्ट करना चाहता है। हमारे मस्तिष्क पर आकाश में उमड़ता हुआ बादल और उमड़ता हुआ समवर्षक यान दोनों ही हमारे समीप बड़े जाएँगे, परंतु स्थिति एक होने पर भी परिणाम विपरीत ही रहेंगे। जिनके साथ मन शकारहित नहीं हो सकता, उनकी निक्टता संपर्क की जननी है। हमी में मात्र के युग में मनुष्य पास है, परंतु मनुष्य का सबाहुल मन पास आने वालों में दूर होता जा रहा है। स्वल्प आदान प्रदान के लिए मनो की निक्टता पहली आवश्यकता है।

हमारे विज्ञान और विविधता-भरे देश की प्रतिभा ने अपनी विज्ञान-यात्रा के प्रथम प्रहर में ही जीवन की तत्त्वगत एकता का ऐसा सूत्र खोज लिया था,

जिनकी सीमा प्राणिमात्र तक फैल गई। हमारे विकास-पथ पर व्यक्तिगत बुद्धि समष्टिगत बुद्धि के इतने समीप रही है और व्यक्तिगत हृदय समष्टिगत हृदय का ऐसा अभिन्न सगी रहा है कि अपरिचय का प्रश्न ही नहीं उठा। इसी से संपूर्ण भौगोलिक विभिन्नता और उसमें बटा जीवन एक ही सांस्कृतिक उच्छ्वास में स्पन्दित और अभिन्न रह सका है।

कहीं किसी सुंदर भविष्य में, अपरिचय इस ऐक्य के मूढम बंधन को छिन्न न कर डाले, संभवतः इसी आशका से अतीत के चित्तको ने देश के कोने-कोने में बिखरे जीवन को निकट लाने के साधनों की खोज की। ऐसे तीर्थ, जिनकी सीमा का स्पर्श जीवन की चरम मफनता का पर्याय है, ऐसे पुण्यपर्व, जिनकी छाया में वर्ण, देश, भाषा आदि की भित्तिया मिट जाती हैं, ऐसी यात्राएँ, जो देश के किसी खड को अपरिचित नहीं रहने देती, आदि-आदि सब अपरिचय को दूर रखने के उपाय ही कहे जाएंगे।

अच्छे युने हुए वस्त्र में जैसे ताना-बाना व्यवल नहीं होता, वैसे ही हमारी सांस्कृतिक एकता में प्रयास प्रत्यक्ष नहीं है। पर है वह निश्चय ही युगों की अविराम और अथक साधना का परिणाम। राजनीतिक उत्थान-पतन, शासन-गत सीमाएँ और विस्तार हमारे मन को बाधने में अममर्थ ही रहे, अतः किसी भी कोने से आने वाले चितन, दर्शनों, आस्था या स्वप्न की क्षीणतम चाप भी हमारे हृदय में अपनी स्पष्ट प्रतिध्वनि जगाने में समर्थ हो सकी।

जीवन के सत्य तक पहुँचाने वाले हमारे सिद्धांतों में ऐसा एक भी नहीं है, जिसमें असख्य तत्त्वान्वेषियों के चितन की रेखाएँ न हो, उसे शिवता देने वाले आदर्शों में ऐसा एक भी नहीं है, जिसमें अनेक साधकों की आस्था की सजीवता न हो और उसे सुंदर बनाने वाले स्वप्नों में एक भी ऐसा नहीं है, जिसमें युग-युगों के स्वप्नद्रष्टाओं की दृष्टि का आलोक न हो।

पर नया जल तो समुद्र को भी चाहिए, नदी-नालो को तो चर्चा ही व्यर्थ है। यदि अपनी क्रमागत एकता को सजीव और व्यापक रखने में हमारा युग कोई महत्त्वपूर्ण योगदान नहीं देता, तो वह अपने महान् उत्तराधिकार के उपयुक्त नहीं कहा जाएगा।

युगों के उपरांत हमारा देश एक राजनीतिक इकाई बन सका है, परंतु आज यदि हम इसे सांस्कृतिक इकाई का पर्याय मान लें, तो यह हमारी भ्रांति ही होगी।

कारण स्पष्ट है। राजनीतिक इकाई जीवन की बाह्य व्यवस्था से संबध रखती है, अतः वह बल से भी बनाई जा सकती है। परंतु सांस्कृतिक इकाई आत्मा की उस मुक्तावस्था में बनती है, जिसमें मनुष्य भेदों से अभेद की ओर, अनेकता से एकता की ओर चलता है। इस मुक्तावस्था को सहज करने के लिए

बुद्धि से बुद्धि और हृदय से हृदय का तादात्म्य अनिवार्य हो जाता है ।

इस अवधि में विचार करते समय अपने युग की विशेष स्थिति की ओर भी हमारा ध्यान जाना स्वाभाविक है । हर क्रांति, हर सघर्ष और हर उथल-पुथल अपने साथ कुछ बरदान और कुछ अभिशाप लाते हैं । वर्षा की बाढ़ अपने साथ जो कूड़ा-कंकट बहा लाती है, वह उसके वेग में न ठहर पाता है, और न असुंदर जान पड़ता है, पर बाढ़ के उतर जाने पर जो कूड़ा-कंकट छिछले जल या तट से चिपककर स्थिर हो जाता है, वह असुंदर भी लगता है और जल की स्वच्छता भी नष्ट करता रहता है । दीर्घ और अनवरत प्रयत्न के उपरांत ही लहरें उसे धारा के बहाव में डालकर जल को स्वच्छ कर पाती हैं ।

बहुत कुछ ऐसी ही स्थिति हमारे युग की है । सघर्ष के दिनों में राजनीतिक स्वतंत्रता हमारी दृष्टि का केंद्र-बिंदु थी, और समस्याएँ भी जीवन के उसी अंश से संबद्ध रहकर महत्त्व पाती थीं । परंतु स्वतंत्रता की प्राप्ति के उपरांत सघर्ष-जनित वेग के अभाव में हमारी गति में ऐसी शिथिलता आ गई, जिसके कारण हमारे सांस्कृतिक स्तर का निम्न और जड़ हो जाना स्वाभाविक था । इसके साथ ही जीवन के विविध पक्षों की समस्याएँ अपने-अपने समाधान मांगने लगीं । स्वतंत्रता, अप्राप्ति के दिनों में साध्य और उपभोग के समय साधन मात्र रह जाती है, इसी से वह अपने आप में निरपेक्ष और पूर्ण नहीं कही जाएगी । जो राष्ट्र राजनीतिक स्वतंत्रता को जीवन के सर्वांगीण विकास का लक्ष्य दे सकता है, उसके जीवन में गतिरोध का प्रश्न नहीं उठता, पर साधन को साध्य मान लेना, गति के अंत का दूसरा नाम है ।

सभ्यता और संस्कृति पर अपना दावा सिद्ध करने के लिए किसी भी समाज के पास उसका लौकिक व्यवहार ही प्रमाण रहता है । अन्य कसौटियाँ महत्त्वपूर्ण हो सकती हैं, परंतु प्रथम नहीं ।

दर्शन, साहित्य आदि से संबद्ध उपलब्धियाँ तो व्यक्ति के माध्यम से आती हैं । कभी वे समष्टि की अव्यक्त या व्यक्त प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करती हैं और कभी उनका विरोध । एक अत्यंत युद्धप्रिय जाति में ऐसा विचारक या साहित्यकार भी उत्पन्न हो सकता है, जो शांति को जीवन का चरम लक्ष्य घोषित करे और ऐसा भी, जो उसी प्रवृत्ति की महत्ता और उपयोगिता सिद्ध करे ।

एक सभ्यता और संस्कृति किसी एक में सीमित न होकर सामाजिक विशेषता है, जिसका मूल्यांकन समाजबद्ध व्यक्तियों के पारस्परिक व्यवहार में ही संभव है । यह कृति न होकर जीवन की ऐसी शैली है, जिसकी मिट्टी से साहित्य, दर्शन, ज्ञान, विज्ञान की कृतियाँ संभव होती हैं ।

विगत कुछ वर्षों से हमारे जीवन से सस्कार के बंधन टूटते जा रहे हैं और यदि यही क्रम रहा, तो आमन्न भविष्य में हमारे लिए संस्कृति पर अपना दावा सिद्ध करना कठिन हो जाएगा। हर पत्ते और सजीव फूल वृन्त से एक रसमयता में बंधे रहते हैं; पर विसरने वाली पखुड़िया और झडने वाले पत्ते न वृन्त के रस से रसमय रहते हैं, न वृन्त की जीवनी शक्ति से संतुलित।

हमारे समाज के संबध में भी यही सत्य होता जा रहा है। न वह जीवन के व्यापक नियम से प्राणवत है और न अपने देशगत सस्कार से रसमय। उसकी यह विच्छिन्नता उसके विसरने की पूर्व सूचना है या नहीं, यह तो भविष्य ही बता सकेगा, पर इतना तो निर्विवाद सिद्ध है कि यह जीवन के स्वास्थ्य का चिह्न नहीं।

हमारे विषम आचरण, भ्रांत असंस्कृत आवेग आदि प्रमाणित करते हैं कि हमारा मनोजगत् ही ज्वरग्रस्त है।

यह सत्य है कि हमारी परिस्थितियां कठिन हैं, पर यह भी मिथ्या नहीं कि हमारी मानसिक स्थिति हमें न किसी परिस्थिति के निदान का अवकाश देती है और न संघर्ष के अनुरूप साधन खोजने का। हम थकते हैं, परंतु हमारी थकावट के मूल में किसी सुनिश्चित लक्ष्य के प्रति आस्था नहीं है। हमारी क्रियाशीलता रोगी की छटपटाहट और क्षण-क्षण करवटों बदलने की क्रिया है, जो उसकी चिंतनीय स्थिति की अभिव्यक्ति मात्र है। हर मानव-समाज के जीवन में ऐसे सक्रातिकाल आते रहते हैं, जब उसकी मान्यताओं का कायाकल्प होता है, मूल्यांकन के मान नये होते हैं और जीवन की गति में पुरानी गहराई के साथ नयी व्यापकता का सगम होता है। परंतु, जैसे नवीन वेगवती तरंग का पुरानी मंथर लहर में मिलकर अधिक विशाल हो जाना स्वाभाविक और अनायास होता है, वैसे ही सस्कार और अधिक संस्कार, मूल्य और अधिक मूल्य का संगम सहज होता है, सुंदर और सुंदरतर, शिव और शिवतर, आंशिक सत्य और अधिक आंशिक सत्य में कोई तात्त्विक विरोध नहीं हो सकता। सुंदरतम्, शिवतम् और पूर्ण सत्य तक पहुंचने के लिए हमें सुंदर, शिव और आंशिक सत्य को कुरूप, अशिव और असत्य बनाने की आवश्यकता नहीं पड़ती और जिस युग का मानव यह सिद्धांत मुला देता है, उस युग के सामने सत्य, शिव, सुंदर तक पहुंचने का मार्ग रुद्ध हो जाता है। आलोक तक पहुंचने के लिए जो अपने सब दीपक बुझा देता है, उसे अंधेरे में भटकना ही पड़ेगा। किसी समाज को ऐसे लक्ष्यरहित कार्य से रोकने के लिए अनेक अंतर-बाह्य संस्कारों की परीक्षा करनी पड़ती है, निर्माण में उसकी आस्था जगानी पड़ती है, संघर्ष को सृजन-योग बनाना पड़ता है।

आधुनिक युग में मानसिक संस्कार के लिए दर्शन, आधुनिक साहित्य, शिक्षा

आदि के जितने साधन उपलब्ध हैं, वे न द्रुतगामी है न सुलभ । पर, साधनों की खोज में हमारी दृष्टि यत्र-युग की विशाल बठोरता की छाया में भी जीवित रह सकने वाली मानव-सवेदना की ओर न जा सके, तो आश्चर्य की बात होगी ।

हमारे चारों ओर कभी प्रदेश, कभी भाषा, कभी जाति, कभी धर्म के नाम पर उठती हुई प्राचीरों प्रामाणित करती हैं कि बौद्धिक दृष्टि से हमारा लक्ष्य अभी कुहराच्छन्न है । पर जिस दिन हमारी बुद्धि में अभेद और सामञ्जस्य होगा, उस दिन हमारी सांस्कृतिक परंपरा को नयी दिशा प्राप्त हो सकेगी । जीवन के नव निर्माण में साहित्य और कला विशेष योगदान देने में समर्थ हैं, क्योंकि वे मानव-भावना के उद्गीय हैं । जब भावयोगी मनुष्य, मनुष्य के निकट पहुंचने के लिए दुर्लभ्य पर्वतों और दुस्तर समुद्रों को पार करने में वर्षों का समय बिताता था, उस युग में भी मानवमात्र की एकता के वे ही वैतालिक रहे हैं ।

आज जब विज्ञान ने वर्षों को घंटों में बदल दिया है, तब साहित्य, कला आदि मनुष्य को मनुष्य से अपरिचित क्यों रहने दें, बुद्धि को बुद्धि का आतंक क्यों बनने दें और हृदय के विरोध में क्यों खड़ा होने दें ?

हम विश्व-भर से परिचय की यात्रा में निकलने के पहले यदि अपने देश के हर कोने से परिचित हो लें, तो इसे शुभ शकुन ही मानना चाहिए । यदि घर में अपरिचय के समुद्र से विरोध और आशका के काले बादल उठते रहें, तो हमारे उजले सकल्प पथ भूल जाएंगे । अतः दूरी को निकटता बनाने के मुहूर्त में हमें निकट की दूरी से सावधान रहने की आवश्यकता है △

छायावाद

अपने मूल्य को बढ़ाने के लिए दूसरों का मूल्य घटा देना यदि हमारे स्वभावगत न हो जाता तो हमने उस जागरण-युग को अधिक महत्त्व दिया होता, जिमकी उग्र वाणी ने पहले-पहल स्थायी बवडर से उसके लक्ष्य का नाम पूछा, जिमकी पैनी दृष्टि ने पहले बढ़कर विकृति के अक्षरो में प्रकृति की भाग्य-लिपि पढ़ी और जिसकी धीर गति ने सर्वप्रथम नवीन पथ के कांटे तोड़े ।

परिवर्तन को संभव करने का श्रेय, राजनीति, समाज, धर्म आदि से संबध रखने वाली परिस्थितियों को भी देना होगा, परंतु उस जागरण-काव्य के वैतालिको में यदि सक्रिय प्रेरणा के स्थान में आज की विवादपणा होती तो संभवतः अब तक हम इसी उलझन में पड़े रहते कि नायिकाओं की प्रशस्ति वंशस्थ में गाई जावे या ऋग्वेद की ऋचाएँ सर्वथा में उतारी जावें । विवाद का माघन से साध्य बन जाना बहुत स्वाभाविक होता है और साध्य बनकर वह हमारी बौद्धिक प्रेरणाओं और मानसिक प्रवृत्तियों का कोई और क्रियात्मक उपसंहार असंभव कर देता है, इसी में क्रिया के अकालक्षम आह्वान के अवसर पर हम विवाद की क्षमता नहीं रखते ।

उस जागरण-युग में बहुत विस्तार से फैले हुए आदर्श और सारत सक्षिप्त किये हुए यथार्थ के पीछे जो पीठिका रही, वह अनेकरूपी परिस्थितियों से बनी और भिन्नवर्णी परिवर्तनों से रंगी थी ।

एक दीर्घकाल से कवि के लिए, संप्रदाय अधयवट और दरवार कल्पवृक्ष बनता था रहा था और स्थिति का बदलना एक व्यापक उलट-फेर के बिना संभव ही नहीं था, जो समय से सहज हो गया ।

शासन के रंगमंच पर नयी शक्ति का आविर्भाव होते ही काव्य के केन्द्रों का बदलना क्यों संभव हो गया, इसे हम जानते ही हैं, परंतु ज्ञातव्य की पुनरावृत्ति भी अज्ञान की पुनरावृत्ति नहीं होती । यह तो स्पष्ट ही है कि नवागत सामक-सत्ता के दृष्टिकोण में धार्मिक कट्टरता न होकर व्यावसायिक लाभ प्रधान रहा

और व्यवसायी दूसरे पक्ष को न सतर्क प्रतिद्वंद्वी बनाना चाहता है, न सजग शत्रु। विरोध में दो ही स्थितियाँ संभव हैं। यदि विपक्ष मजबूत है तो जय के लिए निरंतर संघर्ष करता रहेगा और यदि निर्बल है तो पराजित होकर द्वेष से जलता और पड़्यत्र रबता रहेगा। इन्हीं अतिरिक्त व्यवसाय के लिए सभ्या भी विशेष महत्त्व रखती है, क्योंकि सपन्न से दरिद्र तक को घेर लेने की शक्ति ही व्यापारिक सफलता का मापदण्ड है। चतुर से चतुर व्यापारी भी केवल सम्राटों से व्यापार कर अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकता। अतः नवीन शासक-वर्ग विजेता के समारोह के बिना ही एक चतुर अतिथि के समान हंगारी देहली पर आ बैठा और आत्मकथा के बहाने अपनी सस्कृति के प्रति हमारे मन में ऐसी परिचयभरी ममता उत्पन्न करने लगा कि उसे आगम में न बुला जाना कठिन हो गया। एक सस्कृति जो पाँच-सौ वर्षों में न बर सकी, उसे दूमरी ने डेढ़ सौ वर्षों में कितनी पूर्णता के साथ बर लिया है, इसे देखना हो तो हम अपना-अपना जीवन देख लें।

हमारे बाह्य अधानुकरण और मानसिक दासता के पीछे न कुछ शोभ है न खिन्नता। अतः यह तो मानना ही होगा कि वह नवागत विपक्षी परिचिन पर विस्मृत मित्र की भूमिका में आया। इसके अतिरिक्त अतीत के निष्फल पर निरंतर संघर्ष से हम इतने द्वेष-जर्जर और क्लान्त हो रहे थे कि तीसरी शक्ति की उपस्थिति हमारे लिए विराम जैसी सिद्ध हुई।

उसका धर्म भी भाले की नोक पर न आकर इज्जतान की महीन सुइयों में आया, जिसका पता परिणाम में ही चल सकता था। इसी से जब एक बार इच्छाओं की राख में से रोप की चिनगारी फुरेदकर, हमने संघर्ष की दावाग्नि उत्पन्न करनी चाही, तब राख के साथ चिनगारी भी उठ गई।

इस प्रकार तात्कालिक रक्षा और निरंतर संघर्ष का प्रश्न न रहने से सामंत-वर्ग का महत्त्व बाढ़ के जल के समान स्वयं ही घट गया। इतना ही नहीं, वह वर्ग नवीन शासक सत्ता के साथ कुछ समझौता कर अपनी स्थिति को नये सिरे से निश्चिन करने में व्यस्त हो गया। ऐसी दशा में कवि किसके इंगित पर व्यापार करता और कविता किस आशा पर दरवार में नृत्य करती? परिवर्तनों के उस समारोह में काव्य, ऐश्वर्य की कठिन रेखा पारकर जीवन की सरल व्यापकता में पथ खोजने लगा। सामान्य जीवन की स्वच्छता ने काव्य को अर्थ ही नहीं धर्म-केंद्रों से भी इतना विमुक्त कर दिया कि आज कवि का सत होना संभाव्य माना जाता है, पर मन में कवित्व अतीत की क्यामात्र।

राजनीति में उलझी और शासक-सत्ता की ओर निरंतर सतर्क दृष्टि की जब कुछ अवकाश मिला, तब वह धर्म और समाज को समय के साथ रखकर ठीक से देख सकी। हमारे धर्म के क्षेत्र में नवीन प्रेरणाओं का अभाव नहीं रहा,

परंतु तत्कालीन शासक-सत्ता की दृष्टि धर्म-प्रधान होने के कारण वे किमी न किमी प्रकार राजनीति को परिधि में आती रही और उससे उलझ-उलझकर अपनी विकासोन्मुख सक्रियता खोती रही। अतः वे बाह्य विरोध और आंतरिक रुद्धिप्रियता ने धर्म को ऐसी स्थिति में पहुंचा दिया, जहां वह काव्य को नयी स्फूर्ति देने में असमर्थ हो गया।

बदलो राजनीतिक परिस्थितियों में धर्म और समाज के क्षेत्रों में मुधारको का जो धाविर्भाव हुआ है, उसे ध्यान में रखकर ही हम खड़ी बोली के आदि युग की काव्य-प्रेरणाओं का मूल्य आकर्मकेंगे; क्योंकि उन सबकी मूल प्रवृत्तियाँ एक हैं, साधन चाहे जितने भिन्न रहे हों।

दून्य में व्याप्त स्वरो को रागिनी की निश्चित रूप-रेखा देने वाली घोणा के समान हमारे जागरण-युग ने जिस परिवर्तन को काव्य की रूप-रेखा में स्पष्ट किया, वह उसके पूर्वगामी युग में भी अगरीरी आभास देता रहा था। यदि वह मुधार का महचर न होकर कला का सहोदर होता, तो मभवतः उसके आदर्शवाद में बोलने वाले यथार्थ की कथा कुछ और होती। पर एक ओर काव्य की जड परपरा की प्रतिक्रिया में उत्पन्न होने के कारण और दूसरी ओर वाता-घरण में मडराती हुई विषमताओं के कारण वह इतनी उग्र सतर्कता लेकर चला कि कला की सीमा-रेखाओं पर उसने विश्राम ही नहीं किया। पर यदि नवीन प्रयोग काव्य में जीवन के परिचायक माने जावें तो वह युग बहुत सजीव है और यदि विषय की विविधता काव्य की ममृद्धि का मापदंड हो सके तो वह युग बहुत संपन्न है।

राष्ट्र की विशाल पृष्ठभूमि पर, प्रांतीय भाषाओं की अवज्ञा न करते हुए राजनीतिक दृष्टि से भाषा का जो प्रश्न आज मुलभाषा जा रहा है, वह हमें खड़ी बोली के उन साहसी कवियों का अनायास ही स्मरण करा देता है, जिन्होंने काव्य की सीमित पीठिका पर, राम-कृष्ण-काव्य की धात्री देशी भाषाओं का अनादर न करते हुए भी, साहित्यिक दृष्टि से भाषा की अनेकता में एकता का प्रश्न हल किया था।

काव्य की भाषा बदलना सहज नहीं होता और वह भी ऐसे समय जब पूर्वगामी भाषा अपने माधुर्य में अजेय हो, क्योंकि एक तो नवीन अनगढ़ शब्दों में काव्य की उत्कृष्टता की रक्षा कठिन हो जाती है, दूसरे उत्कृष्टता के अभाव में प्राचीन का अम्यस्त युग उसके प्रति विरक्त होने लगता है।

और छद तो भाषा के सौंदर्य की सीमाएँ हैं, अतः भाषा-विशेष से भिन्न करके उनका मूल्यांकन असंभव हो जाता है। वे प्रायः दूसरी भाषा की मुडौलता को सब ओर से स्पर्श नहीं कर पाते, इसी से या तो उसे अपने बघनों के अनुरूप काट-छांटकर बेडौल कर देते हैं या अपनी निश्चित सीमा-रेखाओं

को, वही दूर तक फैलाकर और कहीं कहीं अपने नाद-सौंदर्य-सबधी लक्ष्य ही से बहुत दूर पहुंच जाते हैं।

तद्भव और अपभ्रंश शब्दों के स्थान में शुद्ध सस्त्रुत शब्दों की प्रधानता देने वाली खड़ी बोली के लिए उस युग ने वही छंद चुने, जो सस्त्रुत वाक्य में उन शब्दों का भार ही नहीं सभाल चुके थे, नाद-सौंदर्य की बसोटी पर भी परखे जाकर खरे उतर चुके थे। विषय की दृष्टि से उस वाक्य-युग के पास जैसी चित्रशाला है, उसका विस्तार यदि विस्मित कर देता है तो विविधता कौतूहल का आधार बनती है। उसमें पौराणिक गाथाएँ बोलती हैं और साधारण द्रष्टांत कथाएँ मुतर हैं। अतीत का गौरव गाता है और वर्तमान विवृतियों से प्रदमन का स्वर मढराता है। कृपक, श्रमजीवी आदि का श्रम निमग्नण देता है और आर्त नारी की व्याथा पुकारती है। शापमुक्त पापाणी के समान परंपरागत जडता से छूटी हुई प्रवृत्ति सबकी अपने जीवन होने की सूचना देने को नटवती है और भारतीयता से प्रसाधित जातीयता उदात्त-अनुदात्त स्वरो में अलख जगाती है।

आज की राष्ट्रीयता उस युग की वस्तु नहीं है। तब तक एक ओर तो उस सस्त्रुति के प्रति, हमारी मातृभावना विक्षिप्त नहीं हुई थी, जिसके साथ हमारा संपर्क दीर्घकालीन रहा और दूसरी ओर वर्तमान शासकता की नीति-मत्ता का ऐसा परिचय नहीं मिला था, जिससे हम उसके प्रति तीव्र असंतोष का अनुभव करते। भारतेंदु-युग में भी जातीयता ही राष्ट्रीयता का स्थान भरे हुए है। ऐसी स्थिति में शासक-सत्ता की प्रशस्तिवा मिलना भी अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता, परंतु इस प्रवृत्ति को वस्तुस्थिति से भिन्न करके देखने पर हम इसका वह अर्थ लगा देते हैं, जो अर्थ से विपरीत है।

नया पथ ढूँढ लेने वाले प्रपात के समान उग्र और साधन-सपन्न उस युग को देखकर यह प्रदमन स्वाभाविक हो जाता है कि उसके सतर्क यथार्थ और निश्चित आदर्शों की छाया में वह सौंदर्ययुग कैसे उत्पन्न हो गया, जिसकी कथा सुरसा और पवनकुमार की कथा बन गई। उत्तर उस युग के अकण्ठित के सिद्धांत पर बढ़ने वाले यथार्थ और रेखागणित के अनुसार निश्चित बिंदुओं को जोड़ने के लिए फैलने वाले आदर्शों में मिलेगा। धर्म की विवृति से क्षुब्ध आदर्श ऐसी सात्विकता पर ठहरा, जहाँ वह पत्थर की रेखाओं के समान निस्प-दता में स्थायी होने लगा और समाज की विषमता से सजग यथार्थ ने ऐसी शृंगारहीनता अपनाई कि इतिवृत्त ही उसका अलंकार हो गया।

आदर्श यदि 'यह करो, वह न करो' में शास्त्र की ग्रथियाँ खोलता है तो यथार्थ 'यह वैसा है, वह ऐसा नहीं' में इतिहास के पृष्ठ पलटता है। रीति-कालीन प्रवृत्तियों की प्रतिश्रिया में उत्पन्न होने के कारण उसने उसकी दृष्टियाँ सहस्र नेत्रों से देखी, पर उसके वैभव को अनदेखा कर दिया, इसी से वह उस

सौंदर्य से तादात्म्य न कर सका, जो सब युगों के लिए सामान्य और सब कलाओं का प्राप्य है।

रीति-काल की सौंदर्य-भावना स्थूल और यथार्थ एकांगी था; परंतु उक्तियों में चमत्कार की विविधता, अलंकारों में कल्पना की रंगीनी और भाषा में मधुरता का ऐश्वर्य इतना अधिक रहा कि उसकी संकीर्णता की ओर किसी की दृष्टि का पहुंचना कठिन था। ऐसे ही उत्तेजक स्थूल को राज्यच्युत करने के लिए जब कवि उपदेश-प्रवण आदर्श और इतिवृत्तात्मक यथार्थ के साधन लेकर आया, तब उसका प्रयास स्वयं उसी को धकाने लगा।

कला के क्षेत्र में जो यह जानता है कि स्वप्न भूटे नहीं होते, सौंदर्य पुराना नहीं होता, वही चिरंतन सत्य की चिर नवीन प्रतिमाओं का निर्माण कर सकता है और निरपेक्ष आदर्श को असंख्य रूपों में साकार कर सकता है। कला का उत्कृष्ट निर्माण द्वेष के पक्षों पर नहीं चलता, अस्त्रों की झनझनाहट में नहीं बोलता और युद्ध के आगम में नहीं प्रतिष्ठित होता। किसी रेखा को छोटी और अस्पष्ट सिद्ध करने के लिए जब हम उसके समानांतर पर दूसरी बड़ी और स्पष्ट रेखा खींच देते हैं तब हमारे उस निर्माण से कला के निर्माण की कुछ तुलना की जा सकती है। कलाकार निर्माण देकर ध्वंस का प्रदत्त सुलभाता है, ध्वंस देकर निर्माण का नहीं; इसी से जब किसी परंपरा का ध्वंस उसकी दृष्टि का केंद्र बन जाता है तब उसमें कला-सृष्टि के उपयुक्त समय का अभाव हो जाता है।

एक सौंदर्य के अनेक रूपों के प्रति कलाकार का वही दृष्टिकोण रहेगा, जो एक ही देवता की अनेक पूर्ण और अपूर्ण, अखंड और खंडित मूर्तियों के प्रति उपासक का होता है। जो खंडित है, विकलांग है, वह देवता की प्रतिच्छवि नहीं, फलतः पूजा के योग्य भी नहीं माना जाता, पर उपासक उसके स्थान में पूर्ण और अखंड की प्रतिष्ठा करके उसे जल में प्रवाहित कर आता है, बरणपीठ नहीं बना लेता।

कलाकार भी सौंदर्य की खंडित और विकलांग प्रतिमाओं को समय के प्रवाह में छोड़कर उनके स्थान में पूर्ण और अखंड को प्रतिष्ठित करता चलता है। सौंदर्य के मंदिर में ऐसा कुछ नहीं है जो पैरों से कुचला जा सके। जिस युग में कलाकारों की ऐसी अस्वाभाविक इच्छा रहती है वह युग पूर्ण सौंदर्य-प्रतिमा में अपने आपको साकार करके आगम युगों के लिए नहीं छोड़ जाता।

परिस्थितियों की विषमता ने हमारे जागरण-युग को, पिछले सौंदर्य-धोष की सकीर्णता की ओर इतना जागृत रखा कि उसकी सुकुमार कल्पना और रंगीन स्वप्नों को इतिवृत्तात्मकता की बर्षों पर आदर्श के कवच पहनकर जीवन-संग्राम के लिए परेड करनी पड़ी और जिस दिन वे अपनी चुभनेवाली बेश-

भूपा फेंककर विद्रोही बनने लगे, उसी दिन एक ऐसे युग का आरंभ हुआ जिसमें वे जीवन की पीठिका पर चक्रवर्ती बन बैठे और अपनी पिछली दासता का प्रतिशोध लेने लगे ।

वर्तमान आकाश से गिरी हुई सबघरहित वस्तु न होकर भूतकाल का ही बालक है जिसके जन्म का रहस्य भूतकाल में ही ढूँढा जा सकता है । हमारे छायावाद के जन्म का रहस्य भी ऐसा ही है । मनुष्य का जीवन चक्र की तरह घूमता रहता है । स्वच्छद घूमते-घूमते थककर वह अपने लिए सहस्र बधनों का आविष्कार कर डालता है और फिर बधनों से ऊँधकर उनको तोड़ने में अपनी सारी शक्तियाँ लगा देता है । छायावाद के जन्म का मूल कारण भी मनुष्य के इसी स्वभाव में छिपा हुआ है । उसके जन्म से प्रथम कविता के बधन सीमा तक पहुँच चुके थे और सृष्टि के बाह्याकार पर इतना अधिक लिखा जा चुका था कि मनुष्य का हृदय अपनी अभिव्यक्ति के लिए रो उठा । स्वच्छद छद में चित्रित उन मानव-अनुभूतियों का नाम छाया उपयुक्त ही था और मुझे तो आज भी उपयुक्त ही लगता है ।

उन छायाचित्रों को बनाने के लिए और भी कुशल चित्तों की आवश्यकता होती है, कारण, उन चित्रों का आधार छूने या चर्मचक्षु से देखने की वस्तु नहीं । यदि वे मानव हृदय में छिड़ी हुई एकता के आधार पर उसकी सवेदना का रंग चढाकर न बनाये जाए तो वे प्रेतछाया के समान लगने लगेँ या नहीं, इसमें कुछ ही संदेह है ।

प्रकाश-रेखाओं के मार्ग में बिखरी हुई बदलियों के कारण जैसे एक ही विस्तृत आकाश के नीचे हिलोरे लेने वाली जल-राशि में कही छाया और कही आलोक का आभास मिलने लगता है उसी प्रकार हमारी एक ही काव्यधारा अभिव्यक्ति की भिन्न शैलियों के अनुसार भिन्नवर्णों हो उठी है ।

आज तो कवि धर्म के अक्षयवट और दरबार के कल्पवृक्ष की छाया बहुत पीछे छोड़ आया है । परिवर्तनों के कोलाहल में काव्य जब से मुकुट और तिलक से उतरकर मध्यवर्ग के हृदय का अतिथि हुआ तब से आज तक वही है और सत्य कहे तो कहना होगा कि उस हृदय की साधारणता ने कवि के नेत्रों से वैभव की चकाचौध दूर कर दी और विपाद ने कवि को धर्मगत सकीर्णताओं के प्रति असहिष्णु बना दिया ।

छायावाद का कवि धर्म के अध्यात्म से अधिक दर्शन के ब्रह्म का ऋणी है, जो मूर्त और अमूर्त विश्व को मिलाकर पूर्णता पाता है । बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर कवि ने जीवन की अखंडता का भावना किया, हृदय की भाव-भूमि पर उसने प्रकृति में बिखरी सौंदर्य-मत्ता की रहस्यमयी अनुभूति प्राप्त की और दोनों के साथ स्वानुभूत सुख-दुःखों को मिलाकर एक ऐसी काव्य-सृष्टि उपस्थित कर दी,

जो प्रकृतिवाद, हृदयवाद, अध्यात्मवाद, रहस्यवाद, छायावाद आदि नामों का भार संभाल सकी ।

छायावाद ने मनुष्य के हृदय और प्रकृति के उस संबंध में प्राण डाल दिए, जो प्राचीन काल से बिंब-प्रतिबिंब के रूप में चला आ रहा था और जिसके कारण मनुष्य को अपने दुःख में प्रकृति उदास और सुख में पुलकित जान पड़ती थी । छायावाद की प्रकृति घट, कूप आदि में भरे जल की एकरूपता के समान अनेक रूपों में प्रकट एक महाप्राण बन गई, अतः अन्न मनुष्य के अधु, मेघ के जल-कण और पृथ्वी के ओस-बिंदुओं का एक ही कारण, एक ही मूल्य है । प्रकृति के सघु तृण और महान वृक्ष, कोमल कलियाँ और कठोर शिलाएँ, अस्थिर जल और स्थिर पर्वत, निविड अंधकार और उज्ज्वल विद्युत-रेखा, मानव की लघुता-विशालता, कोमलता-कठोरता, चंचलता-निश्चलता और मोह-ज्ञान का केवल प्रतिबिंब न होकर एक ही विराट् से उत्पन्न सहोदर हैं ।

किंतु विज्ञान से समृद्ध भौतिकता की ओर उन्मुख बुद्धिवादी आधुनिक युग ने हमारी कविता के सामने एक विशाल प्रदनवाचक चिह्न लगा दिया है, विशेषकर उस कविता के सामने जो व्यक्त जगत् में परोक्ष की अनुभूति और आभास से रहस्य और छायावाद की सजा पाती आ रही है ।

यह भावधारा मूलतः नवीन नहीं है, क्योंकि इसका कहीं प्रकट और कहीं छिपा सूत्र हम अपने साहित्य की सीमात-रेखा तक पाते हैं । कारण स्पष्ट है । किसी भी जाति की विचार-सरणि, भाव-पद्धति, जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण आदि उसकी संस्कृति से प्रसूत होते हैं । परंतु संस्कृति की कोई एक परिभाषा देना कठिन हो सकता है, क्योंकि न वह किसी जाति की राजनीतिक व्यवस्था मात्र होती है और न केवल सामाजिक चेतना, न उसे नैतिक मर्यादा मात्र कह सकते हैं और न केवल धार्मिक विश्वास । देश-विदेश के जलवायु में विकसित जाति-विशेष के अतजंगत् और बाह्य जीवन का वह ऐसा समष्टिगत चित्र है जो अपने गहरे रंगों में भी अस्पष्ट और मीमा में भी असीम है—वैसे ही जैसे हमारे आंगन का आकाश । यह सत्य है कि संस्कृति की बाह्य रूपरेखा बदलती रहती है, परंतु मूल तत्त्वों का बदल जाना, तब तक संभव नहीं होता जब तक उस जाति के परो के नीचे से वह विशेष भूखंड और उसे चारों ओर से घेरे रहने वाला वह विशिष्ट वायुमंडल ही न हटा लिया जावे ।

जहां तक इतिहास की किरणें नहीं पहुंच पाती, उसी सुदूर अतीत में जो जाति इस देश में आकर बस गई थी, जहां न वर्ष के तूफान आते थे, न रेत के बवंडर, न आकाश निरंतर ज्वाला बरसाता रहता था और न अविराम रोता, न तिल-भर भूमि और पल-भर के जीवन के लिए मनुष्य का प्रकृति से मंथन होता था, न हार, उस जाति की संस्कृति अपना एक विशिष्ट व्यक्तित्व रखती

है। सुजला, सुफला, शस्यश्यामला पृथ्वी के अब मे, मलय-समीर के झोको मे झूलते हुए मुस्कराती नदियों की तरंग-भंगिमा मे गति मिलाकर, उन्मुक्त आकाश-चारी विहगो के कठ से कठ मिलाकर मनुष्य ने जिस जीवन का निर्माण किया, जिस कल्पना और भावना को विस्तार दिया, जिस सामूहिक चेतना का प्रसार किया और जिन अनुभूतियों की अभिव्यजना की, उसके सस्कार इतने गहरे थे कि भीषण रक्तपात और उथल-पुथल मे भी अकुरित होने की प्रतीक्षा मे धूल मे दबे हुए बीज के समान छिपे रहे, कभी नष्ट नहीं हुए।

वास्तव मे उस प्राचीन जीवन ने मनुष्य को, प्रकृति से तादात्म्य अनुभव करने की, उसके विशिष्टगत सौंदर्य पर चेतन व्यक्तित्व के आरोप की, उसकी समष्टि मे रहस्यानुभूति की, सभी सुविधाएँ सहज ही दे डाली। हम वीर पुत्रो और पशुओ की याचना से भरी वेद-ऋचाओ मे जो इतिवृत्त पाते है, वही उपा, महत् आदि को चेतन व्यक्तित्व देकर एक सहज और सरल सौंदर्यानुभूति मे बदल गया है। फिर यही व्यष्टिगत सरल सौंदर्यबोध उम सर्ववाद का अग्रदूत बन जाता है, जिसका अकुर पुरुष मूकन मे, विश्व पर एक विराट् शरीरत्व के आरोपण द्वारा प्रकट हुआ है। आगे चलकर इसी के निखरे रूप की झलक सृष्टि-सवधी ऋचाओ के गभीर प्रश्नो मे मिलती है, जो उपनिषदो के ज्ञान-समुद्र मे मिलकर उसकी लहर मात्र बनकर रह गया। ज्ञानक्षेत्र के 'तत्त्वमसि', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'सोऽहम्' आदि ने उस युग के चितन को कितनी विविधता दी है, यह कहना व्यर्थ होगा।

तत्त्वचितन के इतने विकास ने एक ओर मनुष्य को व्यावहारिक जगत् के प्रति घोररागी बनाकर निष्क्रियता बढाई और दूसरी ओर अनधिकारियों द्वारा, प्रयोगरूप सिद्धांतो को सत्य बन जाने दिया, जिससे रूढ़िवाद की सृष्टि संभव हो सकी। इसी की प्रतिक्रिया से उत्पन्न बुद्ध की विचारधारा ने एक ओर ज्ञानक्षेत्र की निष्क्रिय चेतना के स्थान मे, अपनी सक्रिय करुणा दी और दूसरी ओर रूढ़िवाद को रोवने के लिए पुराने प्रतीक भी अस्वीकृत कर दिये। यह त्रम प्रत्येक युग के परिवर्तन मे नये उलटफेर के साथ आता रहा है, इसी से आधुनिक काल के साथ भी इसे जानने की आवश्यकता रहेगी।

कविता ने जीवन में भी स्थूल जीवन से सवध रखने वाला इतिवृत्त, सूक्ष्म सौंदर्य की भावना, उसका चितन मे अत्यधिक प्रसार और अंत मे निर्जीव अनुभूतियाँ आदि त्रम मिलते ही रहे हैं। इसे और स्पष्ट करके देखने के लिए, उस युग के काव्य-साहित्य पर एक दृष्टि डाल लेना पर्याप्त होगा, जिसकी धारा, वीर-गाथाकालीन इतिवृत्त के विषम शिलाखंडो मे से फूटकर निर्गुण-सगुण भावनाओ की उर्वर भूमि में प्रशात, निर्मल और मधुर होती हुई रीति-कालीन रूढ़िवाद के क्षार जल मे मिलकर गतिहीन हो गई। परिवर्तन का वही

क्रम हमारे आधुनिक काव्य-साहित्य को भी नई रूपरेखाओं में बांधता चल रहा है या नहीं, यह कहना अभी सामयिक न होगा।

रीतिकालीन रुढ़िवाद से थके हुए कवियों ने, जब सामयिक परिस्थितियों से प्रेरित होकर तथा बोलचाल की भाषा में अभिव्यक्ति की स्वाभाविकता और प्रचार की सुविधा समझकर, ध्रजभाषा का जन्मजात अधिकार तडी बोली को सौंप दिया, सब साधारणतः लोग निराश ही हुए। भाषा तच्चीलेपन से मुक्त थी और उचित्यो में चमत्कार न मिलता था। इसके साथ-साथ रीतिकाल की प्रतिक्रिया भी कुछ कम वेगवती न थी। अतः उस युग की कविता की इतिवृत्तात्मकता इतनी स्पष्ट हो चली है कि मनुष्य की सारी कोमल और सूक्ष्म भावनाएं विद्रोह कर उठीं। इसमें सदेह नहीं कि उस समय की अधिकांश रचनाओं में भाषा लचीली न होने पर भी परिष्कृत, भाव सूक्ष्मता-रहित होने पर भी सात्त्विक, छंद नवीनता-शून्य होने पर भी भावानुरूप और विषय रहस्यमय न रहने पर भी लोकपरिचित और संस्कृत मिलते हैं। पर स्पूल सौंदर्य की निर्जोव आवृत्तियों से थके हुए और कविता की परंपरागत नियम-शृंखला से ऊबे हुए व्यक्तियों को, फिर उन्ही रेखाओं में बंधे स्पूल का न तो यथार्थ चित्रण रुचिकर हुआ और न उमका रुढ़िगत आदर्श भाया। उन्हे नवीन रूप-रेखाओं में सूक्ष्म सौंदर्यानुभूति की आवश्यकता थी, जो छायावाद में पूर्ण हुई।

छायावाद ने नये छंदबधों में, सूक्ष्म सौंदर्यानुभूति का जो रूप देना चाहा वह खड़ी बोली की सात्त्विक कठोरता नहीं सह सकता था। अतः कवि ने कुशल स्वर्णकार के समान प्रत्येक शब्द को ध्वनि, वर्ण और अर्थ की दृष्टि से नाप-तोलकर और काट-छांटकर तथा कुछ नये गढ़कर अपनी सूक्ष्म भावनाओं को कोमलतम कसेवर दिया। इस युग की प्रायः सब प्रतिनिधि रचनाओं में किसी न किसी अंश तक प्रकृति के सूक्ष्म सौंदर्य में व्यक्त किसी परोक्ष सत्ता का आभास भी रहता है और प्रकृति के व्यक्तिगत सौंदर्य पर चेतनता का आरोप भी, परंतु अभिव्यक्ति की विशेष शैली के कारण, वे कहीं सौंदर्यानुभूति की व्यापकता, कहीं सदेवन की गहराई, कहीं कल्पना के सूक्ष्म रंग और कहीं भावना की मर्मस्पर्शिता लेकर अनेक बाधों को जन्म दे सकी हैं।

पिछले छायापथ को पार कर हमारी कविता आज जिस नवीनता की ओर जा रही है, उसने अस्पष्टता जैसे परिचित विदोषणों में, सूक्ष्म की अभिव्यक्ति, वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अभाव, यथार्थ से पलायनवृत्ति आदि नये जोड़कर, छायावाद को अतीत और वर्तमान में संबंधहीन एक आकस्मिक आकाशचारी अस्तित्व देने का प्रयत्न किया है। इन आक्षेपों की अभी जीवन में परीक्षा नहीं हो सकी है, अतः यह हमारे मानसिक जगत् में ही विशेष मूल्य रखते हैं।

कितने दीर्घकाल से वासनोन्मुख स्थूल सौंदर्य का हमारे ऊपर कैसा अधिकार रहा है, यह कहना व्यर्थ है। युगो से कवि को शरीर के अतिरिक्त और वही सौंदर्य का लेश भी नहीं मिलता था और जो मिलता था वह उसी के प्रसाधन के लिए अस्तित्व रखता था। जीवन के निम्न स्तर से होता हुआ यह स्थूल, भक्ति की सात्विकता में भी कितना गहरा स्थान बना सका है यह कृष्णकाव्य का श्रु गार-वर्णन प्रमाणित कर देगा।

यह तो स्पष्ट ही है कि खड़ी बोली का सौंदर्यहीन इतिवृत्त उसे हिला भी न सकता था। छायावाद यदि अपने संपूर्ण प्राण-प्रवेग से प्रकृति और जीवन के सूक्ष्म सौंदर्य को असह्य रंग रूपों में अपनी भावना द्वारा सजीव करके उपस्थित न करता तो उस धारा को, जो प्रगतिवाद की विषम भूमि में भी अपना स्थान ढूँढती रही है, मोड़ना कब संभव होता, यह कहना कठिन है। मनुष्य को निम्नवासना को बिना स्पर्श किए हुए जीवन और प्रकृति के सौंदर्य को उसके समस्त सजीव वैभव के साथ चित्रित करने वाली उस युग की अनेक कृतियाँ किसी भी साहित्य को सम्मानित कर सकेंगी।

फिर मेरे विचार में तो सूक्ष्म के सबंध का कोलाहल सूक्ष्म से भी परिमाण में अधिक हो गया है। छायावाद स्थूल की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ, अतः स्थूल को उसी रूप में स्वीकार करना उसके लिए संभव न हुआ; परंतु उसकी सौंदर्य दृष्टि स्थूल के आधार पर नहीं है, यह कहना स्थूल की परिभाषा को सकीर्ण कर देना है। उसने जीवन के इतिवृत्तात्मक यथार्थ चित्र नहीं दिये, क्योंकि वह स्थूल से उत्पन्न सूक्ष्म सौंदर्य-मत्ता की प्रतिक्रिया थी, अप्रत्यक्ष सूक्ष्म के प्रति उपेक्षित यथार्थ की नहीं, जो आज की वस्तु है। परंतु उसने अपनी क्षितिज से क्षितिज तक विस्तृत सूक्ष्म की सुंदर और सजीव चित्रशाला में, हमारी दृष्टि को दौड़ा-दौड़ाकर ही, उसे विकृत जीवन की यथार्थता तक उतरने का पथ दिखलाया। इसी से छायावाद के सौंदर्य-द्रष्टा की दृष्टि कुत्सित यथार्थ तक भी पहुँच सकी।

यह यथार्थ-दृष्टि यदि सक्रिय सौंदर्य-मत्ता के प्रति नितान्त उदामीनता या विरोध लेकर आती है तब उसमें निर्माण के परमाणु नहीं पनप सकते, इसका सजीव उदाहरण हमें अपनी विकृति के प्रति सजग पर सौंदर्यदृष्टि के प्रति उदासीन या विरोधी यथार्थदर्शियों के चित्रों की निष्क्रियता में मिलेगा।

हमारी सामयिक समस्याओं के रूप में छायायुग की छाया में निखरे ही। राष्ट्रीयता को लेकर लिखे गये जय-पराजय के गान स्थूल धरातल पर स्थित सूक्ष्म अनुभूतियों में जो मार्मिकता ला सके हैं, वह किसी और युग के राष्ट्रगीत दे सकेंगे या नहीं, इसमें संदेह है। सामाजिक आधार पर 'वह दीपशिखा-सी सांत, भाव में सीन' में तप पूत वैषण्य का जो चित्र है, वह अपनी दिव्य लौकिक-

कता में अकेला है।

सूक्ष्म की सौंदर्यानुभूति और रहस्यानुभूति पर आश्रित गीत-काव्य अपने लौकिक रूपों में इतना परिचित और मर्मस्पर्शी हो सका कि उसके प्रवाह में युगों से प्रचलित सस्ती भावुकतामूलक और वासना के विकृत चित्र देने वाले गीत सहज ही बह गये। जीवन और कला के क्षेत्र में इनके द्वारा जो परिष्कार हुआ है, वह उपेक्षा के योग्य नहीं। पर अन्य युगों के समान इस युग में भी कुछ निर्जीव अनुकृतियाँ तो रहेगी ही।

जीवन की समष्टि में सूक्ष्म से इतने भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह तो स्कुल से बाहर कहीं अस्तित्व ही नहीं रखता। अपने व्यक्त सत्य के साथ मनुष्य जो है और अपने अव्यक्त सत्य के साथ वह जो कुछ होने की भावना कर सकता है, वही उसका स्कुल और सूक्ष्म है और यदि इनका ठीक संतुलन हो सके तो हमें एक परिपूर्ण मानव ही मिलेगा। जहाँ तक धर्म-गत रुढ़िग्रस्त सूक्ष्म का प्रश्न है, वह तो केवल विधिनियेधमय सिद्धांतों का संग्रह है, जो अपने प्रयोगरूप को छोड़कर हमारे जीवन के विकास में बाधक हो रहे हैं। उनके आधार पर यदि हम जीवन के सूक्ष्म को अस्वीकार करें तो हमें जीवन के ध्वंस में लगे हुए अध्यात्म का जैसा विकास पिछले युगों में हो चुका है, विज्ञान का वैसा ही विकास आधुनिक युग में हो रहा है—एक जिस प्रकार मनुष्यता को नष्ट कर रहा है, दूसरा उसी प्रकार मनुष्य को। परंतु हम हृदय से जानते हैं कि अध्यात्म से सूक्ष्म और विज्ञान के स्कुल का समन्वय जीवन को स्वस्थ और सुंदर बनाने में भी प्रयुक्त हो सकता है।

वह सूक्ष्म जिसके आधार पर एक कुत्सित से कुत्सित, कुरूप से कुरूप और दुर्बल से दुर्बल मानव, बानर या वनमानुष की पंक्ति में न खड़ा होकर, सृष्टि में सुंदरतम ही नहीं, शक्ति और बुद्धि में श्रेष्ठतम मानव के भी कर्ष से कषा मिलाकर, उससे प्रेम और सहयोग की साधिकार याचना कर सकता है, वह सूक्ष्म जिसके सहारे जीवन की विषम अनेकरूपता में भी एकता का तंतु बुढ़कर हम उन रूपों में सामंजस्य स्थापित कर सकते हैं, धर्म का रुढ़िगत सूक्ष्म जीवन न होकर जीवन का सूक्ष्म है। इससे रहित होकर स्कुल अपने भीतिक-वाद द्वारा जीवन में वही विकृति उत्पन्न कर देगा, जो अध्यात्म-परंपरा ने की थी।

छायावाद ने कोई रुढ़िगत अध्यात्म या वर्गगत सिद्धांतों का संचय न देकर हमें केवल समष्टिगत चेतना और सूक्ष्मगत सौंदर्य-सत्ता की ओर जागरूक कर दिया था, इसी से उसे यथार्थ रूप में ग्रहण करना हमारे लिए कठिन हो गया।

सिद्धांत एक के होकर सबके हो सकते हैं, अतः हम उन्हें अपने चित्त में

ऐसा स्थान सहज ही दे देते हैं जहाँ वे हमारे जीवन से कुछ पूर्यक् ऐकातिक विकास पाते रहने को स्वतंत्र हैं। परंतु इन सिद्धांतों से मुक्त जो सत्य है, उसकी अनुभूति व्यक्तिगत ही संभव है और उस दशा में वह प्रायः हमारे सारे जीवन को अपनी कसौटी बनाने का प्रयत्न करता है। इसी से स्थूल की अतल गहराई का अनुभव करने वाला देहात्मवादी मार्क्स भी अकेला ही है और अध्यात्म की स्थूलगत व्यापकता की अनुभूति रखने वाला अध्यात्मवादी गांधी भी।

हमारा कवि भक्ति और अनुभूत सत्य की परिधि लाघकर न जाने कितने अद्वैतपरोक्षित और अपरोक्षित सिद्धांत बटोर लाता है और उनके मापदंड से उसे मापना चाहता है, जिसका मापदंड उसका समग्र जीवन ही हो सकता था। अतः आज छायावाद के सूक्ष्म का खरा छोटापन कसने की कोई कसौटी नहीं है।

छायावाद का जीवन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं रहा, यह निर्विवाद है, परंतु कवि के लिए यह दृष्टिकोण कितना आवश्यक है, इस प्रश्न के कई उत्तर हैं।

वास्तव में जीवन के साथ इन दृष्टिकोण का वही संबंध है जो शरीर के साथ शल्यशास्त्र और विज्ञान का। एक शरीर के खड-खड कर उसके संबंध में सारा ज्ञातव्य जानकर भी हमें उसके प्रति वीतराग रहना है, दूसरा जीवन को विभक्त कर उसके विविध रूप और मूल्य को जानकर भी हम उसके प्रति अनुरक्ति नहीं देते। इस प्रकार यह बुद्धि-प्रभूत चिंतन में ही अपना स्थान रखता है। इसीलिए कवि को इससे विपरीत एक रागात्मक दृष्टिकोण का सहारा लेना पड़ता है, जिसके द्वारा वह जीवन के सुंदर और कुत्सित को अपनी संवेदना में रग कर देता है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण जीवन का बौद्धिक मूल्य देता है, चित्र नहीं; और यदि देता भी है, तो वे एक मानपेशी, शिरा, अस्थि आदि दिखाते हुए उस शरीर-चित्र के समान रहते हैं, जिसका उपयोग केवल शरीर-विज्ञान के लिए है। आज का बुद्धिवादी युग चाहता है कि कवि बिना अपनी भावना का रग चढ़ाये यथार्थ का चित्र दे, परंतु इस यथार्थ का कला में स्थान नहीं, क्योंकि वह जीवन के किसी भी रूप से हमारा रागात्मक संबंध नहीं स्थापित कर सकता। उदाहरण के लिए हम एक महान और एक साधारण चित्रकार को ले सकते हैं। महान् पहले यह जान लेगा कि किस दृष्टिकोण से एक वस्तु अपनी सहज मार्मिकता के साथ चित्रित की जा सकेगी और अब दो-चार टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं और दो-एक रंग के घबों से ही दो टाण में अपना चित्र समाप्त कर देगा, परंतु साधारण एक-एक रेखा को उचित स्थान पर बँटा-बँटाकर उस वस्तु को ज्यो-का-र्यो बागज पर उतारने में सारी शक्ति लगा देगा। यथार्थ का पूरा चित्र तो पिछला ही है, परंतु वह हमारे हृदय को छू न

सकेगा। छू तो वही अधूरा सकता है, जिसमें चित्रकार ने रेखा-रेखा न मिला-कर आत्मा मिलाई है।

कवि की रचना भी ऐसे क्षण में होती है, जिसमें वह जीवित ही नहीं, अपने मपूर्ण प्राण-प्रवेग से वस्तु-विशेष के साथ जीवित रहता है, इसी से उसका शब्दगत चित्र अपनी परिचित इकाई में भी नवीनता के स्तर पर स्तर और एक स्थिति में भी मामिकता के दल पर दल खोलता चलता है। कवि जीवन के निम्न स्तर भी काव्य के उपादान से ला सकता है, परंतु वे उसी के होकर सफल अभिव्यक्ति करेंगे और उनके रागात्मक दृष्टिकोण से ही सजीवता पा सकेंगे।

यह रगीन दृष्टिकोण वास्तव में कुछ अस्वाभाविक भी नहीं, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति और जाति के जीवन में यह, एक न एक समय आता ही रहता है। विशेष रूप में यह उस तारुण्य का द्योतक है, जो चांदनी के समान हमारे जीवन की कठोरता, कर्कशता, विषमता आदि को एक स्निग्धता से ढक देता है। जब हम पहले-पहल जीवन-संग्राम में प्रवृत्त होते हैं, तब अपनी दृष्टि की रंगमयता से ही पथ के कुरूप पत्थरों को रगीन और सास की सुरभि से ही काटों को सुवासित करते चलते हैं। परंतु जैसे-जैसे संघर्ष से हमारे स्वप्न टूटते जाते हैं, कल्पना के पंख झड़ते जाते हैं, वैसे-वैसे हमारे दृष्टिकोण की रंगीनी फीकी पड़ती जाती है और अंत में पलित केशो के साथ इसके भी रंग धुल जाते हैं। यह उस वार्धक्य का सूचक है, जिसमें हमें जीवन से न कुछ पाने की आशा रहती है और न देने का उत्साह। केवल जो कुछ पाया और दिया है, उसी का हिसाब बुद्धि करती रहती है।

जीवन या राष्ट्र के किसी भी महान् स्वप्नद्रष्टा, नवनिर्माता या कलाकार में यह वार्धक्य संभव नहीं, इसी से आज न कवींद्र बृद्ध हैं, न बापू। इनमें जीवन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अभाव नहीं, किंतु वह एक मृजनात्मक भावना से अनुशासित रहता है। विश्लेषणात्मक तथा प्रधानतः बौद्धिक होने के कारण वैज्ञानिक दृष्टिकोण एक ओर जीवन के अखंड रूप की भावना नहीं कर सकता और दूसरी ओर चिंतन में ऐकात्मिक होता चला जाता है। उदाहरण के लिए हम अपनी राष्ट्र या जनवाद की भावना ले सकते हैं, जो हमारे युग की विशेष देन है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से हम अपने देश के प्रत्येक भूखंड के संबंध में सब ज्ञातव्य जानकर मनुष्य के साथ उसका बौद्धिक मूल्य आक सकेंगे और वर्ग-उपवर्गों में विभक्त मानव-जीवन के सब रूपों का विश्लेषणात्मक परिचय प्राप्त कर, उसके सबंध में बौद्धिक निरूपण दे सकेंगे; परंतु खंड-खंड में व्याप्त एक विशाल राष्ट्रभावना और व्यक्ति-व्यक्ति में व्याप्त एक विशाल जनभावना हमें इस दृष्टिकोण से ही नहीं मिल सकती। केवल भारतवर्ष के मानचित्र बाटकर, जिस

प्रकार राष्ट्रीय भावना जागृत करना संभव नहीं है, केवल शतरंज के मोहरों के समान व्यक्तियों को हटा-बढ़ाकर जैसे जनभावना का विकास कठिन है, केवल वैज्ञानिक दृष्टिकोण से जीवन की गहराई और विस्तार नाप लेना भी वैसा ही दुस्तर कार्य है। इसी से प्रत्येक युग के निर्माता को यथार्थ द्रष्टा ही नहीं स्वप्न-द्रष्टा भी होना पड़ता है।

छायावाद के कवि को एक नये मौद्र्य-लोक में ही यह भावात्मक दृष्टिकोण मिला, जीवन में नहीं, परंतु यदि इसी कारण हम उसके स्थान में केवल बौद्धिक दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा कर जीवन को पूर्णता में देखना चाहेगे, तो हम भी असफल ही रहेंगे।

पलायनवृत्ति के संवध में हमारी यह धारणा बन गई है कि वह जीवन-संग्राम में असमर्थ छायावाद की अपनी विशेषता है। सत्य तो यह है कि युगों से, परिचित से अपरिचित, भौतिक से अध्यात्म, भाव से बुद्धिपक्ष, यथार्थ में आदर्श आदि की ओर मनुष्य को ले जाने और इसी क्रम से लौटाने का बहुत कुछ श्रेय इसी पलायनवृत्ति को दिया जा सकता है। यथार्थ का सामना न कर सकने वाली दुर्बलता ही इसे जन्म देती है, यह कथन कितना अपरीक्षित है, इसका सबल प्रमाण हमारा चिंतन-प्रधान ज्ञान-युग दे सकेगा। उस समय न जाति किसी कठोर संघर्ष से निश्चेष्ट थी, न किसी सर्वप्राप्तिनी हार से निर्जीव, न उनका घर धन-धान्य से शून्य था और न जीवन सुख-सतोष से, न उसके सामने सामाजिक विवृति थी और न सांस्कृतिक ध्वंस। परंतु इन सुविधाओं से अति परिचय के कारण उमका तारुण्य, भौतिक को भूलकर चिंतन के नवीन लोक में भटक गया और उपनिषदों में उसने अपने ज्ञान का ऐसा सूक्ष्म विस्तार किया कि उसके बुद्धिजीवी जीवन को फिर स्थूल की ओर लौटना पड़ा।

व्यक्ति के जीवन में भी यह पलायनवृत्ति इतनी ही स्पष्ट है। सिद्धार्थ ने जीवन के संघर्षों में पराजित होने के कारण महाप्रस्थान नहीं किया, भौतिक सुखों के अति परिचय ने ही धक्काकर उनकी जीवनधारा को दूसरी ओर मोड़ दिया था। आज भी व्यावहारिक जीवन में, पढ़ने से जी धुराने वाले विद्यार्थियों को, जब हम सिलोनों में घेरकर छोड़ देते हैं, तब कुछ दिनों के उपरांत वह स्वयं पुस्तकों के लिए थकल हो जाता है।

जीवन के और साधारण स्तर पर भी हमारी इस धारणा का समर्थन हो सकेगा। चिड़ियों से शेर की रक्षा करने के लिए मचान पर बंठा हुआ शूटर, जब अचानक शेर और चिड़ियों को भूलकर विरह या खेती का उठता है, तब उममें शेर-प्रतिहार की कथा न कहकर अपने किसी मिलन-विरह की स्मृति ही दोहराता है। खरकी के बठिन पापाण को अपनी सासो में बोलना बनाने का निष्फल प्रयत्न करती हुई दरिद्र स्त्री, जब इस प्रयास को रागमय करती है, तो उसमें

चपकी और अन्न की बात न होकर, किसी आश्रयन में पड़े भूले की मार्मिक कहानी रहती है। इसे चाहे हम यथार्थ की पूति करें, चाहे उससे पलायन की वृत्ति, वह परिभाषातीत मन की एक आवश्यक प्रेरणा तो है ही।

छायावाद के जन्मकाल में मध्यम वर्ग में ऐसी क्रांति नहीं थी। आर्थिक प्रश्न इतना उग्र नहीं था, सामाजिक विषमताओं के प्रति हम संपूर्ण शोष के साथ आज के समान जाग्रत नहीं हुए थे और हमारे सांस्कृतिक दृष्टिकोण पर असंतोष का इतना स्याह रंग भी नहीं चढ़ा था। तब हम कैसे कह सकते हैं कि केवल सघर्षमय यथार्थ जीवन से पलायन के लिए ही, उस वर्ग के कवियों ने एक सूक्ष्म भावजगत् को अपनाया। हम केवल इतना कह सकते हैं कि उन परिस्थितियों ने आज की निराशा के लिए धरातल बनाया।

उस युग के कतिपय कवियों की कोमल भावनाएँ तो कारागार की कठोर भित्तियों से टकराकर कर्कश नहीं हो सकी; परंतु इसी कोमलता के आधार पर हम उन कवियों को जीवन-संघर्ष में अममथ नहीं ठहरा सकेंगे।

छायावाद के आरंभ में जो विकृति थी आज वह दातगुण हो गई है। उस समय की क्रांति की चिनगारी आज सहस्र-सहस्र लपटों में फैलकर हमारे जीवन को क्षार किये दे रही है। परंतु आज भी तो हम अपने श्वात चिंतन में बुद्धि से खराद-खरादकर सिद्धांतों के मणि ही बना रहे हैं। हमारे सिद्धांतों की चरणपीठ बनकर ही जो यथार्थ आ सका है, उसे भी हमारे हृदय के बंद से टकरा-टकरा-कर ही लौटना पड़ रहा है। वास्तव में हमने जीवन को उसके सक्रिय सवेदन के साथ न स्वीकार करके, एक विरोध बौद्धिक दृष्टिकोण से छु भर दिया है। इसी से जैसे यथार्थ से साक्षात् करने में असमर्थ छायावाद का भावपक्ष पलायन संभव है, उसी प्रकार यथार्थ की सक्रियता स्वीकार करने में असमर्थ प्रगतिवाद का चिंतन में पलायन सहज है। यदि विचारकर देखा जाये, तो जीवन से केवल भावजगत् में पलायन उतना हानिकारक नहीं, जितना जीवन से केवल बुद्धिपक्ष में पलायन, क्योंकि एक हमारे कुछ शणों को गतिशील कर जाता है और दूसरा हमारा संपूर्ण सक्रिय जीवन माग लेता है।

यदि इन सब उलझनों को पार कर हम पिछले और आज के काव्य की, एक विस्तृत धरातल पर उदार दृष्टिकोण से परीक्षा करें तो हमें दोनों में जीवन के निर्माण और प्रसाधन के सूक्ष्म तत्त्व मिल सकेंगे। जिस युग में कवि के एक ओर परिचित और उत्तेजक स्थूल था और दूसरी ओर आदर्श और उपदेशप्रवण इतिवृत्ति, उसी युग में उसने भावजगत् और सूक्ष्म सौंदर्य-सत्ता की खोज की थी। आज वह भावजगत् के कोने-कोने और सूक्ष्म सौंदर्यगत चेतना के अणु-अणु से परिचित हो चुका है; अतः स्थूल व्यक्त उसकी दृष्टि को विराम देगा। यदि हम पहले मिली सौंदर्य-दृष्टि और आज की यथार्थ दृष्टि का समन्वय कर सकें, पिछली

सक्रिय भावना से बुद्धिवाद की शुष्कता को स्निग्ध बना सकें और पिछनी सूक्ष्म चेतना की, व्यापक मानवता में प्राण-प्रतिष्ठा कर सकें, तो जीवन का सामंजस्य-पूर्ण चित्र दे सकेंगे। परंतु जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के समान कविता का भविष्य भी अभी अनिश्चित ही है। पिछले युग की कविता अपनी ऐश्वर्य-राशि में निश्चल है और आज की, प्रतिक्रियात्मक विरोध में गतिवती। समय का प्रवाह जब इस प्रतिक्रिया को स्निग्ध और विरोध को कोमल बना देगा, तब हम इनका उचित समन्वय कर सकेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

इस विश्वास के लिए पर्याप्त कारण हैं। छायावाद आज के यथार्थ से दूर जान पड़ने पर भी भारतीय काव्य की मूल प्रेरणाओं के निकट है। उसके प्रति-निधि कवि, भारतीय संस्कृति, दर्शन तथा प्राचीन साहित्य से विशेष परिचित रहे। पश्चिमीय और बगला काव्य साहित्य से उनका परिचय हुआ अवश्य, परंतु उसका अनुकरण मात्र काव्य को इतनी समृद्धि नहीं दे सकता था। विशेषतः बगला से उन्हीं जो मिला, वह तत्त्वतः भारतीय ही था, क्योंकि कवीन्द्र स्वयं भारतीय संस्कृति के सबसे समर्थ प्रहरी हैं। उन्होंने अपने देश की अष्टात्म-सुधा से पश्चिम का मृत्तिका-पात्र भर दिया, इसी से भारतीय कवियों ने उसके दान को अपना ही मानकर ग्रहण किया और पश्चिम ने कृतज्ञता के साथ।

प्रकृति पर चेतन व्यक्तित्व का आरोप, कल्पनाओं की समृद्धि, स्वानुभूत-सुख दुःखों की अभिव्यक्ति, इस काव्य की ऐसी विशेषताएँ हैं, जो परस्पर सापेक्ष रहेगी।

जहाँ तक भारतीय प्रकृतिवाद का संबंध है, वह दर्शन के सर्ववाद का काव्य में भावगत अनुवाद कहा जा सकता है। यहाँ प्रकृति दिव्य शक्तियों का प्रतीक भी बनी, उसे जीवनसगिनी बनने का अधिकार भी मिला, उसने अपने सौंदर्य और शक्ति द्वारा अखंड और व्यापक परम तत्त्व का परिचय भी दिया और वह मानव के रूप का प्रतिबिंब और भाव का उद्दीपन बनकर भी रही।

वेदकालीन मनीषी उसे अजर सौंदर्य और अजस्र शक्ति का ऐसा प्रतीक मानता है, जिसके बिना जीवन की स्वस्थ गति संभव नहीं। वह मेघ को प्राकृतिक परिणाम नहीं, चेतन व्यक्तित्व के साथ देखता है।

वातत्वित्वा मरुतो वर्षनिर्णिजो यमा इव सुदृश सुपेशसः ।

विशङ्काश्वा अरुणाश्वा अरेपस प्रत्वक्षसो महिना धौरिवः ॥

ऋ० ५-५७-४

×

×

×

सुजातासो जनुपा रक्मवक्षसो दिनो अर्का अमृत नाम भेजिरे ।

ऋ० ५-५७-५

[विद्युत-प्राण (तीक्ष्ण कांति) से उद्भासित, जल-धारा के परिधान से वेष्टित यह मरुत् एक से सुंदर और शोभन हैं। अरुण-गीत अरवो वाले इन धीरो ने विस्मृत अतरिक्त छा लिया है।
कल्याणार्थ उत्पन्न, ज्योतिर्नम वक्ष वाले इन आकाश के गायकों की रूपाति अमर है !]

ऐसे चित्र-गीतों ने मेघदूत के मेघ से लेकर आज तक के मेघ-गीतों को कितनी रूपरेखा दी है, यह अनुमान कठिन नहीं।

बादल गरजो !
घेर-घेर घोर गगन धाराघर ओ !

ललित ललित काले धुंधराले,
बाल कल्पना के-मे पाले,

विद्युत-छवि उर मे कवि नव जीवन वाले !
वक्ष छिपा नूतन कविता फिर भर दो ! —निराला

इस गीत की रूप-रेखा ही नहीं, इसका स्पदन भी ऐसी समातन प्रवृत्ति से सबद्ध है, जो नये-नये रूपों में भी तत्त्वतः एक रह सकी। इसी प्रकार—
भद्रासि रात्रि चमसो नविष्टो विश्व गोरूपं युवतिर्विर्भापि ।
चक्षुष्मति मे उराती वपुषि प्रति त्वं दिव्यानक्षत्राण्यमुवथाः ॥

(हे विधामदायिनी कल्याणि ! तू पूर्ण पात्र के समान (घाति से भरी हुई है, नवीन है; सब ओर व्याप्त होकर पृथ्वीरूप हो गई है। सब पर दृष्टि रखने-वाली स्नेहशीले रात्रि ! तूने आकाश के उज्ज्वल नक्षत्रों से अपना शृंगार किया है।
उपर्युक्त गीत में रात्रि का जो चित्र है वह तब से आज तक कवियों को मुग्ध करता आया है।

खड़ी बोली का वैतालिक प्रकृति की रूपरेखा को प्रधानता देता है—
अत्युज्ज्वला पहन तारक मुक्त-माला
दिव्याम्बरा बन अलौकिक कौमुदी से,
भावो भरी परम मुग्धकरी हुई थी

राका-कलाकार-मुखी रजनीपुरन्ध्री ! —हरिऔध
छायावाद का कवि रेखाओं से अधिक महत्त्व स्पदन को दे देता है—
और उसमें हो चला जैसे सहज सविलास
मदिर माधव धामिनी का धीर पद-विन्यास ।
कालिमा घुलने लगी घुलने लगा आलोक,
इसी निमृत अनन्त में बसने लगा अब लोक;

राशि राशि नखत-कुसुम की अर्चना अथात,
 बिखरती है, तामरस-सुंदर चरण के प्रात
 मनु निरखते लगे ज्यो-ज्यो यामिनी का रूप,
 वह अनत प्रगाढ छाया फैलती अपरूप ?—प्रसाद

तिमिराञ्चल मे चञ्चलता का नही बही आभास

मधुर मधुर है उसके दोनो अधर

किंतु जरा गभीर—नही है उसमे हास-विलास ?

हँसना है तो केवल तारा एक

गुंथा हुआ उन घुंघराते वाले वाले वालो से ।—निराला

प्रसाद जो अपनी सुनहली तूलिका से इटा का चित्र खींचते हैं—

बिखरी अलकों ज्यो तर्क-जाल ?

था एक हाथ मे कर्मकलश वसुधा का जीवन-सार लिये,

दूसरा विचारो के नभ को था मधुर अभय अवलव दिये,

त्रिवली घीत्रिगुण तरगमयी आलोक-वमन लिपटा अराल,

यह रूप-दर्शन हमे ऋग्वेद की उपा के सामने खडा कर देता है—

एषा दिवदुहिता प्रत्यर्दिनि व्युच्छन्ती शुक्रवासा ।

विद्वस्वेषाना' ॥

(वह आकाश की पुत्री अपने उज्ज्वल आलोक-परिधान मे वैष्टिन किरणों
 मे उद्भाषित नवीन और विद्व की गमम्न निधियों की य्यामिनी है !)

अरण गिनु के मुग पर गविग्नाग

सुनहरी तट घुंघरामी वान ।

×

×

×

आलोक-रश्मि से घुने उपा-अञ्चल मे आदोलन अमद—प्रसाद
 धादि पवित्रयो मे जो कल्पना मिलती है, वह कुछ परिवर्तित रूप मे ऋग्वेद के
 निम्न शीतो मे भी स्थिति रखती है—

हिरण्यकेशा रजसो विमारेर्ह घुनिवातर ध्रजीमान ।

सुचिभ्राजा उपमो नवेदा .. ॥

(सुनहली अलकों वाला वह अधकार दूर कर दिशाओ मे फैल जाता है,
 अहि के समान (लहरोवाला), वात-सा गतिशील और उसके कण का कारण
 वह आलोकशोभी उपा का जाता है ।)

आ धां तनोपि रश्मिभिरान्तरिक्षमुद्यप्रियम् ।

उप ध्रुवेण शोचिषा ॥

(हे दीप्तिमति ! तूने हम विस्तृत और प्रिय अन्तरिक्ष को धायोक्त और
 किरणों से बुन दिया है ।)

'कामायनी' में श्रद्धा के मुख के लिए कवि ने लिखा है—
खिला हो ज्यों विजली का फूल

मेघ-वन बीच गुलाबी रंग ।
इससे हजारो वर्ष पहले अथर्व का कवि लिख चुका है—

(तू समुद्रो का सार है, तू विजलियों का फूल है) !
सिन्धोर्गभोसि विद्युता पुष्पम् ।
उदयाचल से बाल हस फिर,

उठता अवर में अवदात ।—पत
आदि पवितयो में हंस के रूपक से सूर्य का जो चित्र अंकित किया गया है, वह भी
अथर्व के निम्न चित्र से विशेष साम्य रखता है ।

सहस्रहण्य वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम् ।
(आकाश में उड़ता हुआ उज्ज्वल हंस (सूर्य) अपनी सहस्रों वर्ष दीर्घ यात्रा
तक पंख फैलाए रहता है ।)

तस्या रूपेणे वृषा हरितस्रजः ।—अथर्व
(उसके रूप से ही ये वृक्ष हरी पत्र-मालाएँ पहने खड़े हैं) का भाव ही इन
पवितयों में पुनर्जन्म पा गया है—

तृण वीरुष सहलहे हो रहे

किसके रस से सिंचे हुए ?—प्रसाद
आधुनिक कवियों के लिए आज की परिस्थितियों में प्राचीन मनीषियों का
अनुकरण करना संभव नहीं था, पर उसकी दृष्टि का भारतीयता से ही
उनकी रचनाओं में वे रग आ गये, जो इस देश के काव्य-तट पर विशेष खिल
सकते थे ।

विश्व के रहस्य से संबंध रखने वाली जिज्ञासा जब केवल बुद्धि के सहारे
गतिशील होती है, तब वह दर्शन की सूक्ष्म एकता को जन्म देती है और जब
हृदय का आश्रय लेकर विकास करती है, तब प्रकृति और जीवन की एकता
विविध प्रश्नों में व्यक्त होती है ।

अथर्व का कवि प्रकृति और जीवन की गतिशीलता को विविध प्रश्नों का
रूप देता है—

कथं वात नेलयदि कथं न रमते मनः ।
किमापः सत्यं प्रेस्ताग्तीनेलयन्ति कदाचन ॥

(यह समीर क्यों नहीं चैन पाता ? मन भी क्यों नहीं एक ही वस्तु में
रमता ? (दोनों क्यों चंचल हैं ?) कौन से सत्य तक पहुंचने के लिए (जीवन
के समान) जल भी निरंतर प्रवाहित है ?)

ऐसी जिज्ञासा ने हमारे काव्य को भी रहस्यमय सौंदर्य दिया है—

किसके अत करण-अजिर मे
 अखिल ध्योम का लेकर मोती,
 औसू का बादल बन जाता
 फिर तुपार की वर्षा होती?—प्रसाद
 अलि ! किस स्वप्नो की भाषा मे
 इगित करते तरु के पात ?
 वहाँ प्रात को छिपती प्रतिदिन
 वह तारक-स्वप्नो की रात?—पत

सस्कृत काव्यो मे प्रकृति दिव्यता के सिंहासन से उतरकर मनुष्य के पग से
 पग मिलाकर चलने लगती है, अत हम मानव-आकार के समान ही उसकी
 यथार्थ रूपरेखा देखते हैं और हृदय के साथ गूढ स्पन्दन सुनते हैं ।

वाल्मीकि के वनवासी राम कहते हैं—

ज्योत्स्ना तुपारमलिना पौर्णमास्या न राजते ।
 सीतेव आतपश्यामा लक्ष्यते न तु शोभते ॥

(तुपार से मलिन उजियाली रात पूर्णिमा होने पर भी शोभन नहीं लगती ।
 आतप से कातिहीन अगो वाली सीता के समान प्रत्यक्ष तो है, पर शोभित नहीं
 होती ।)

पाले से घुधली हेमतिनी राका को, धूप से कुम्हलाई हुई सीता के पार्श्वं म
 खडा करके, वे दोनों का एक ही परिचय दे डालते हैं ।

करुणा और प्रकृति के मर्मज्ञ भवभूति और प्रेम तथा प्रकृति के विशेषज्ञ
 कालिदास ने प्रकृति को उसकी यथार्थ रेखाओ मे भी अंकित किया है और जीवन
 के हर स्वर से स्वर मिलाने वाली रागिनी के रूप मे भी । सस्कृत काव्यो मे चेतन
 ही नहीं, जड भी मानव सुख दु ख से प्रभावित होते है ।

दु खिनी सीता के साथ—

एते रुदन्ति हरिणा हरित विमुच्य
 हसाश्च शोकविधुरा करुण रुदन्ति

हरित सृण छोडकर मृग रोते हैं, शोक विधुर हस करुण रुदन करते हैं ।
 इतना ही नहीं, मनुष्य के दु ख से 'अपि भ्रावा रोदित्यपि दलित वज्रस्य हृदयम्'
 पापाण भी आसुओ मे पिघल उठते हैं, वज्र का हृदय भी विदीर्ण हो जाता है ।

इसी प्रकार विधुर अज के विलाप से

'अकरोत् पृथ्वीरुहानपि स्रुत-शास्त्रा-रत वाप्पदूपितान्'—वृक्ष अपनी
 शास्त्राओ के रस रूपी अश्रु-बिंदुओ से गीले हो जाते हैं ।

हिंदी काव्य मे भी इस प्रवृत्ति ने विभिन्न रूप पाये हैं । निर्गुण के उपामकों
 ने प्रकृति मे रहस्यमय अव्यक्त के मौदर्य और शक्ति को प्रत्यक्ष पाया, सगुण

भक्तों ने, उसे अपने व्यक्त इष्ट की रहस्यमयी महिमा और सुपमा की सजीव संगिनी बनाया और रीति के अनुयायियों ने, उसे प्रसाधन मात्र बनाने के प्रयास में भी ऐसा रूप दे डाला, जिसके बिना उनके नायक-नायिकाओं के शरीर-सौंदर्य और भावों का कोई नाम-रूप ही असंभव हो गया ।

खड़ी बोली के कवियों ने अपने काव्य में जीवन और प्रकृति को, वैसे ही सजीव, स्वतंत्र, पर जीवन की सनातन सहगामिनी के रूप में अंकित किया है, जैसा संस्कृत काव्य के पूर्वार्द्ध में मिलता है । 'प्रियप्रवास' की तपस्विनी राधा का पवन-दूत, साकेत की वनवासिनी सीता को घेरने वाले मुग्ध-विहंग-नता-वृक्ष, सबके चित्रण में स्पष्ट मरल रेखाएँ और सूक्ष्म स्पंदन मिलेगा । प्रकृति को संगिनी के रूप में ग्रहण करने की प्रवृत्ति इतनी भारतीय है कि वह उत्कृष्ट काव्यों से लेकर लोकगीतों तक व्याप्त ही चुकी है । ऐसा कोई लोकगीत नहीं, जिसमें मनुष्य अपने सुख-दुःख की कथा कोपल-वपीटा, सूर्य-चंद्र, गया-यमुना, आम-नीम आदि को न सुनता हो और अपने जीवन के प्रश्न सुलझाने के लिए प्रकृति से सहायता न चाहता हो ।

छायावाद में यह सर्ववाद अधिक सूक्ष्म रूप पा गया है, जिसमें जड़ तत्त्व से चेतन की अभिन्नता, सूक्ष्म सौंदर्यानुभूति को जन्म देती है और स्वष्टिगत चेतना में व्यापक चेतना की एकता, भावारमक दर्शन सहज कर देती है । इसी से कवि रूप-दर्शन को एक बिराट पीठिका पर प्रतिष्ठित कर उसे महत्ता देता है और व्यक्तिगत सुख-दुखों को जीवन के अनंत क्रम के साथ रखकर उन्हें विस्तार देता है । प्रकृति के रूप-दर्शन की अभिव्यक्ति के लिए, उसने वही प्राचीनतम पद्धति स्वीकार की है, जो एक रूप-खंड को दिव्य, अखंड और स्पंदित मूर्तिमत्ता दे सकी और स्वानुभूत सुख-दुःखों को सामान्य बनाने के लिए उसने प्रकृति से ऐसा तादात्म्य किया, जिससे उमका एक-एक स्पंदन प्रकृति में अनेक प्रतिध्वनियाँ जगाने लगा । कही प्रकृति उसके अरूप भावों की परिभाषा ही नहीं, चिन्मयी बन जाती है—

इदु-विचुवित बाल-जलद-मा

मेरी आदा का अभिनय ।—पंत

और कही वह अपनी तन्मयता में यह भूल जाता है कि प्रकृति के रूपों से मिलते-जुलते भावों के दूसरे नाम हैं, अतः एक की सजा दूसरे के रूप को सहज ही मिल जाती है—

झझा झकोर गर्जन है विजली है नीरद-माला;

पाकर इस शून्य हृदय को सबने आ डेरा डाला !—प्रसाद

सर्ववाद के निकट कोई वस्तु अपने आप में न बड़ी है न छोटी, न लघु है न गुरु । जैसे अगो की अनुभूति के साथ शरीर की अखंडता का बोध रहता है और

शरीर की अनुभूति के साथ अगो की विभिन्नता का ज्ञान, वैसे ही सर्ववाद में विविधता स्वतः पूर्ण रूप और सापेक्ष स्थिति रखती है। अतः छायावाद का कवि न प्रकृति के किसी रूप को लघु या निरपेक्ष मानता है न अपने जीवन को, क्योंकि वे दोनों ही एक विराट रूप-समष्टि में स्थिति रखते हैं, और एक व्यापक जीवन से स्पन्दन पाते हैं। जीवन के रूप-दर्शन के लिए प्रकृति अपना अक्षय सौंदर्य-कोष खोल देती है और प्रकृति के प्राण परिचय के लिए जीवन अपना रगमय भावाकाश दे डालता है।

एक था आकाश वर्षा का सजल उद्दाम
दूसरा रजित किरण से श्री-कलित घनश्याम,
चल रहा था विजन पथ पर मधुर जीवन-खेल,
दो अपरिचित से नियति अब चाहती थी मेल । — प्रसाद
ढुलकते हिम जल से लोचन

अधखिला तन अधखिला-मन

धूलि से भरा स्वभाव-दुकूल

मृदुल-छवि पृथुल सरलपन,

स्वविस्मित से गुलाब के फूल

तुम्ही सा था मेरा बचपन । — पत

आदि में सजल आकाश और किरण-रजित मेघ से मनु और श्रद्धा के जीवन का जो परिचय प्राप्त होता है, गुलाब के विस्मित जैसे अधखिले फूल और मनुष्य के शैशव का जो एक चित्र मिलता है, वह अपनी परिधि में प्रकृति और जीवन का रूप-दर्शन ही नहीं स्पन्दन भी घेरना चाहता है, अतः भाव-चित्र ही रूप-गीत हो जाता है।

छायायुग के यथार्थ चित्र भी इसी तूलिका से अंकित हुए हैं, इसी से उनमें एक प्रकार की सूक्ष्मता आ जाना स्वाभाविक है।

“वह फूर काल-ताड़व की स्मृति रेखा सी” में विधवा की दीप्त करुणा, “चाँगा, आ रहा मौन घैरें सा” में मनु के पुत्र का सशक्त व्यक्तित्व, “वह जलधर जिसमें चपला या श्यामला का नाम नहीं” में श्रम की व्यथा जनित जड़ता आदि, इसी प्रवृत्ति का परिचय देते हैं।

प्रकृति और जीवन के तादात्म्य के कारण छायावाद के प्रेम-गीतों के भाव में ‘सग में पावन गंगा-स्नान’ की पवित्रता और रूप में ‘भूड रहस्य बना साकार’ की व्यापकता आ गई।

नारी का चित्र मानो स्वयं प्रकृति का चित्र है—

वह विश्व-मुकुट सा उज्ज्वलतम शशिखंड सदृश सा स्पष्ट भान,
दो पद्म-पत्ताश-चपक से ढग देते अनुराग विराग डाल,

चरणों में थी गतिभरी ताल !—प्रसाद

तुम्हीं हो स्पृहा अथु औ, हास

सृष्टि के उर की साँस;—पंत

वह कामायनी जगत की

मंगलकामना अकेली !—प्रसाद

मे जो मंगलमयी शक्ति है, उसके सौंदर्य के प्रति भी कवि सजग है—

स्मित मधुराका थी, द्वासी मे

पारिजात-कानन खिलता;

और इस सौंदर्य को सकीर्ण बना लेने की प्रवृत्ति का भी उसे ज्ञान है—

पर तुमने तो पाया सदैव उसको सुंदर जड़ देह मात्र,

सौंदर्य-जलधि से भर लाए केवल तुम अपना गरल-मात्र !

इस विकृति के कारण की ओर संकेत भी स्वाभाविक है—

तुम भूल गए पुरुषत्वमोह में कुछ सत्ता है नारी की !—प्रसाद

छाया-युग के भागवत सर्ववाद ने नारी-सौंदर्य के प्रति कवि की दृष्टि में वही पवित्र विस्मय और उल्लास भर दिया था जिससे

सजल सिद्धि-घात पुष्प

देखता है एकटक किरण कुमारी को !—निराला

तत्कालीन राष्ट्रीय जागरण भी इस प्रवृत्ति के उत्तरोत्तर विकास में सहायक हुआ; क्योंकि उस जागृति के सूत्राधार व्यावहारिक घरातल पर ही नहीं जीवन की सूक्ष्म व्यापकता में भी नारी के महत्त्व का पता पा चुके थे। दीर्घकालीन जड़ता के उपरांत भी जब वह मुक्ति के आह्वान मात्र पर अशेष रक्त तोल देने के लिए आ खड़ी हुई, तब राजनीति, समाज, काव्य सभी ने उसे विस्मय से देखा।

काव्य में उसका ऐसा भागवत चित्रण कहां तक उपयुक्त था, यह प्रश्न भी संभव है।

नारी की सामाजिक स्थिति के संवध में, उस समय तक बहुत से आंदोलन चल चुके थे, उसके जीवन की कठोर सीमा-रेखाओं को कोमल करने के लिए भी प्रयत्न हो रहे थे। अपने विशेष दृष्टिकोण और समय से प्रभावित कवियों ने उसे अपने भावजगत् में जमी मुक्ति दी, उसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी विशेष ध्यान देने योग्य है। किसी को बहुत संकीर्ण बनाकर देखते-देखते वह संकीर्ण हो जाता है तथा किसी को एक विशाल पृष्ठभूमि पर रखकर देखना, उसे कुछ विशाल बनने की प्रेरणा देता है। सौंदर्य की स्थूल जड़ता से मुक्ति मिलते ही नारी को प्रकृति के समान ही रहस्यमय शक्ति और सौंदर्य प्राप्त हो गया, जिसने उसके मानसिक जगत् से पिछली संकीर्णता धो डाली।

कवि के लिए यह प्रवृत्ति कहा तक स्वाभाविक थी, इसे प्रमाणित करने के लिए हमारे पास कला और सस्कृति का बहुत विकसित और अटूट क्रम है। यदि आदिम सघर्ष काल में भी पुरुष अपने पार्श्व में खड़ी नारी की रूपरेखा प्रकृति में देख सका और तब भी जीवन के व्यावहारिक घरातल पर ठहरने में समर्थ हो सका, तो निश्चय ही यह प्रवृत्ति आज कोई ऐसा अपकार न करेगी। भारत यह दृष्टि इतनी भारतीय रही कि जीवन में अनेक बार परीक्षित हो चुकी है। इसके अभाव में नारी को केवल विलास का साधन बनकर जीना पड़ा, पर इस प्रवृत्ति के साथ उसके जीवन को विशेष शक्ति और व्यापकता मिल सकी। छाया-युग की नारी चाहे अपने व्यक्तिगत जीवन के लिए विशेष सुविधाएँ न प्राप्त कर सकी हो, पर उसकी शक्ति ने पुरुष की बासना-व्यवसायी दृष्टि को एक दीर्घ-काल तक जहाँ का तहाँ ठहरा दिया—इसी से आज का क्षुत्क्षामयथार्थवादी पुरुष उस पर आघात किये बिना एक पग बढ़ने का भी अवकाश नहीं पाता।

इसके अतिरिक्त कलाकार के लिए सौंदर्य में ही रहस्य की अनुभूति सहज है, अतः वह सौंदर्य को इतिवृत्त बनाकर कहने का प्रयास नहीं करता। विशेषतः उस युग के कलाकार के लिए यह और भी कठिन है, जब बाह्य विषमताएँ पार कर आंतरिक एकता स्पष्ट करना ही नश्य रहे। जिन कारणों से कवि ने प्रकृति और जीवन के यथार्थ को कठिन रेखाओं से मुक्त करके, उसमें सामंजस्य की खोज की, उसी कारण से वह नारी को भी कठोर यथार्थ में बाधकर काव्य में स्थापित न कर सका।

स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति हमारे लिए नवीन नहीं, क्योंकि हमारे काव्य का एक महत्त्वपूर्ण अंश ऐसी अभिव्यक्तियों पर आश्रित है। वेदगीतों की एक बहुत बड़ी संख्या आत्मबोध और स्वानुभूति उल्लास-विपाद को स्वीकृति देती है। सस्कृत और प्राकृत काव्यों में वे रचनाएँ अशेष माधुर्यभरी हैं, जिनमें दृश्य चित्रों के सहारे मनोभाव ही व्यक्त किये गये हैं। निर्गुण काव्य में आदि से अतः तक, स्वानुभूति मिलन-बिरह ही प्रेरक शक्ति है। सगुण-भक्तों के गीतिकाव्य में सुख-दुःख, सयोग-वियोग, आशा-निराशा आदि ने जो मर्मस्पर्शिता पाई है, उसका श्रेय स्वानुभूति को ही दिया जाएगा। सब प्रकार की अलंकारिता से शून्य सरल लोकगीतों में जो अतर्तम तक प्रवेश कर जाने वाली भाव-सीधता है, वह भी स्वानुभूतिमयी ही मिलेगी।

इस प्रकार की अभिव्यक्तियों में भाव रूप चाहता है, अतः शैली का कुछ संकेतमयी हो जाना सहज संभव है। इसके अतिरिक्त हमारे यहाँ तत्त्वचिंतन का बहुत विकास हो जाने के कारण जीवन-रहस्यों को स्पष्ट करने के लिए एक सवेत्तात्मक शैली बहुत पहले बन चुकी थी। अल्प दर्शन से लेकर रूपात्मक काव्यकला तक सबने ऐसी शैली का प्रयोग किया है, जो परिचित के माध्यम से

अपरिचित और स्थूल के माध्यम में सूक्ष्म तक पहुँच सके।

अवश्य ही दर्शन और काव्य की शक्तियों में अंतर है, परंतु यह अंतर रूपगत है तत्त्वगत नहीं; इसी से एक जीवन के रहस्य का मूल और दूसरी शाखा-पल्लव-फूल खोजती रही है।

कल्पना के संबंध में यह स्मरण रखना उचित है कि वह स्वप्न से अधिक ठोस धरती चाहती है। प्रायः परिचित और प्रिय वस्तुओं से संबंध रखने के कारण उसका विदेशीय होना सहज नहीं। विशेषतः प्रत्येक कवि और कलाकार अपने संस्कार, जीवन तथा वातावरण के प्रति इतना सजग संवेदनशील होता है कि उसकी कल्पना, उसके ज्ञान और अनुभूतियों की चित्रमय व्याख्या बन जाती है।

प्रकृति के मॉर्दम और पृथ्वी के ऐश्वर्य ने भारतीय कल्पना को जिन मुनहले-रूपहले रंगों से रंग दिया था, वे तब से आज तक धुल नहीं सके। सम्प्रति के आदिकाल में ही यहां के तत्त्वदर्शक के विचार और अनुभूतियों में कितने चटकीले रंग उतर आये थे, इसका प्रमाण तत्कालीन काव्यगत कल्पनाएं देती हैं।

परमतत्त्व हरण्यगर्भ है, समुद्र रत्नाकर है, सूर्य दिन का मणि है, अग्नि हरण्यकेश है, पृथ्वी रत्नप्रसू, हिरण्यगर्भा, वसुंधरा आदि सजावों में जगमगाती है। भाषा का सपूर्ण कोष स्वर्ण रजत के रंगों से उद्भासित और असह्य रूपों से समृद्ध है।

इस समृद्धि का श्रेय यही की धरती को दिया जा सकता है। उत्तरी ध्रुव के जमे हुए समुद्र को कोई रत्नाकर की सजा देने की भूल नहीं करेगा, बर्फीली ठंडी धरती को कोई वसुंधरा कहकर पुलकित न होगा।

इन समृद्ध और विविध कल्पनाओं का क्रम अटूट रहा है। जब तपोवन-वासी आदि कवि 'शालव-कनकप्रभा' कहकर धान की बाली का परिचय देता है, तब कालिदास जैसे कवियों की समृद्ध कल्पना के संबंध में कुछ कहना व्यर्थ है। जब निर्गुण का उपासक फकीर 'रवि ससि नखत दिपे ओहि जोती, रतन पदारथ मानिक मोती।' कहकर अपने अरूप का ऐश्वर्य प्रकट करता है, तब सगुण-भक्तों की कल्पना के वैभव का अनुमान सहज है।

कल्पना का ऐश्वर्य लोकगीतों में भी ऐसा ही निरंतर क्रम रखता है। सुदूर अतीत के कवि ने आंसू को मोती के समान माना है, पर आज की ग्रामीण माता भी गाती है, 'मोती डरकें जब लालन रोवें फुलभरियन जैसी किलकनियां।' मोती टुलकते हैं जब उसका शिशु रोता है और फुलझड़ियों जैसी उसकी किलकारियां हैं। कोई ऐसा जीवन-गीत नहीं जिसमें ग्रामवधु सोने के थाल में भोजन परोसकर और सोने की भारी में गगाजल भरकर अपने पति का

सस्कार नहीं करती। इन कल्पनाओं के पीछे जो सस्कार हैं, वे किसी प्रकार भी विदेशीय नहीं।

आज दरिद्रता हमें अपनी घरती या प्रकृति से नहीं मिली, हमारी दुर्बलता का अभिशाप है, अतः काव्य जब प्रकृति का आधार लेकर चलता है, तब कल्पना में सूक्ष्म रेखाओं का बाहुल्य और दीप्त रंगों का फैलाव स्वाभाविक ही रहेगा।

छायावाद तत्त्वतः प्रकृति के बीच में जीवन का उद्गीर्ण है, अतः कल्पनाएं बहुरंगी और विविधरूपी हैं। पर वैभव की दृष्टि से यह आज के यथार्थ के कितने निकट है, यह तब प्रकट होता है जब छायायुग का स्वप्नद्रष्टा गाता है—

प्राची में फैला मधुर राग

जिसके मडल में एक कमल खिल उठा सुनहला भर पराग।

—वामायनी

और यथार्थ का नया उपासक कहता है—

मरकत-डिब्बे ना खुला ग्राम

जिस पर नीलम नभ आच्छादन।

—ग्राम्या

छायावाद की दुःखवाद का पर्याय समझ लेना भी सहज ही गया है। जहाँ तक दुःख का संबंध है, उसके दो रूप हो सकते हैं—एक जीवन की विषमता की अनुभूति में उत्पन्न करुणभाव, दूसरा जीवन के स्थूल धरातल पर व्यक्तिगत असफलताओं से उत्पन्न विषाद।

करुणा हमारे जीवन और काव्य से बहुत गहरा संबंध रखती है। वैदिक काल ही में एक ओर आनंद-उत्साह की उपासना होनी थी और दूसरी ओर इन प्रकृति के विरुद्ध एक करुण-भाव भी विकसित पा रहा था। एक ओर मज्जा संबंधी पशुबलि प्रचलित थी और दूसरी ओर 'मा हिस्मात् सर्वभूतानि' का प्रचार हो रहा था। इस प्रकृति ने आगे विकास पाकर जैन धर्म के मूल सिद्धांतों को रूप-रेखा दी। बुद्ध द्वारा स्थापित संसार का सबसे बड़ा करुणा का धर्म भी इसी प्रकृति का परिष्कृत फल कहा जाएगा।

काव्य ने भी करुणा को विशेष महत्त्व दिया। हमारे दो महान् काव्यों में से एक को करुण-भाव में ही प्रेरणा मिली है और दूसरा अपने सधर्म के अंत में करुण-भाव ही में चरम परिणति पा लेता है। संस्कृत के उत्कृष्ट काव्यों में भी कवि अपने इस संसार को नहीं छोड़ता। भवभूति तो करुणा के अतिरिक्त कोई रस ही नहीं मानता और कालिदास के काव्यों में करुणा स्वासोच्छ्वास के समान मिली हुई है। अग्निवर्ण के दुःखद अंत में समाप्त होने वाला रघुवंश, जीवन के सब उत्साह-उमंगों की रात पर दुष्यंत से साक्षात् करने वाली

शाकुंतला, यदि करुण-भाव न जगा सके तो आश्चर्य है।

हमारे इस करुण-भाव के भी कारण हैं। जहाँ भी चित्तन-प्रणाली इतनी विकसित और जीवन की एकता का भाव इतना सामान्य होगा, वहाँ इस प्रकार का करुण-भाव अनायास और स्वाभाविक स्थिति पा लेता है। आत्म-वत्सर्वभूतेषु' की धारणा जब जीवन पर व्यापक प्रभाव डाल चुकी, तब उसका बाह्य अंतर, पग-पग पर असंतोष को जन्म देता रहेगा।

परमतत्त्व की व्यापकता और इष्ट की पूर्णता के साथ अपनी सीमा और अपूर्णता की अनुभूति ही, निर्गुण-सगुणवादियों के विरह की तीव्रता का कारण है। यह प्रवृत्ति भी मूलतः करुणा से सबद्ध होगी।

करुणा का रग ऐसा है, जो जीवन की बाह्य रेखाओं को एक कोमल दीप्ति दे देता है; संभवतः इसी कारण लौकिक काव्य भी विप्रलम्भ शृंगार को बहुत महत्त्व और विस्तार देते रहे हैं। जब यह करुण भावना व्यक्तिगत सुख-दुःख के साथ मिल जाती है, तब उन दोनों के बीच में विभाजन के लिए बहुत सूक्ष्म रेखा रहती है।

भारतेंदु युग में हम एक व्यापक करुणा की छाया के नीचे देश की दुर्दशा के चित्र बनते-विगडते देखते हैं। पौराणिक चरित्रों की खोज करुण-भावना की सामान्यता के लिए होती है और देश, समाज आदि का मध्याह्न चित्रण व्यक्तिगत विपाद को विस्तार देता है। लड़ी बोली के कवि संस्कृत काव्य-साहित्य के ओर अधिक निकट पहुँच जाते हैं। 'प्रिय-प्रवास' की राधा और 'साकेत' की उर्मिला का, नये वातावरण में पुनर्जन्म उसी सनातन करुणा की प्रेरणा है और राष्ट्र-गीतो और सामाजिक चित्रण में व्यक्तिगत विपाद को समष्टिगत अभिव्यक्ति मिली है।

छायायुग का काव्य स्वानुभूतिमयी रचनाओं पर आश्रित है, अतः व्यापक करुण-भाव और व्यक्तिगत विपाद के बीच की रेखा और भी अस्पष्ट हो जाती है। गीत में गाया हुआ पराया दुःख भी अपना हो जाता है और अपना भी सबका, इसी से व्यक्तिगत हार से उत्पन्न व्यथा एक समष्टिगत करुण-भाव में एकरस जान पड़ती है।

इस व्यक्ति-प्रधान युग में व्यक्तिगत सुख-दुःख अपनी अभिव्यक्ति के लिए आकुल थे, अतः छायायुग का काव्य स्वानुभूति-प्रधान होने के कारण वैयक्तिक उल्लास-विपाद की अभिव्यक्ति का सफल माध्यम न बन सका।

समष्टिगत जीवन की बाह्य विकृति और आंतरिक विपमता की अनुभूति से उत्पन्न करुण-भाव जो रूप पा सकता था, वह भी गायक से भिन्न कोई स्थिति नहीं रखता था। वर्णनात्मक काव्यों में जो प्रवृत्ति कवि की सूक्ष्म दृष्टि और उसके हृदय की संवेदनशीलता को व्यक्त करती, वह स्वानुभूतिमयी रचनाओं में,

उसका वैयक्तिक विपाद बनकर उपस्थित हो सकी। अतः इस विपाद के विस्तार में दूसरे केवल उसी का हाहाकार और उसे प्रेरणा देने वाली मानसिक स्थिति खोज-खोजकर खवने लगे।

'कामायनी' में बुद्धि और हृदय के समन्वय के द्वारा जीवन में सामजस्य साने का जो चित्र है, वह कवि का स्वभावगत सस्कार है, क्षणिक उत्तेजना नहीं। इस सामजस्य का सकेत सब प्रतिनिधि रचनाओं में मिलेगा।

कर्म-भाव के प्रति कवियों का झुकाव भारतीय सस्कार के कारण है, पर उसे और अधिक बल सामयिक परिस्थितियों से मिल सका।

कौन प्रकृति के करुण काव्य सा
 वृक्ष पत्र की मधुछाया में,
 लिखा हुआ सा अचल पढा है
 अमृत सदृश नग्वर काया में ?
 जिससे कन-कन में स्पदन हो,
 मन में मलयानिल चदन हो,
 करुणा का नव अभिनदन हो,
 वह जीवन-भीत सुना जा रे !

—प्रमाद

विश्व-वाणी ही है ऋदन
 विश्व का काव्य अधु-कन ।
 वेदना ही के सुरीले हाथ से
 है बना यह विश्व इसका परमपद
 वेदना ही का मनोहर रूप है ।

—पत

मेरा आकुल ऋदन
 व्याकुल वह स्वर-सरित-हिलोर,
 वायु में घरती करुण मरोर
 बढ़ती है तेरी ओर;
 मेरे ही ऋदन से उमड रहा यह तेरा सागर सदा अधीर !

—निराना

इस विपाद में व्यक्तिगत दुःखों का प्रकटीकरण न होकर उम दास्य करुणा की ओर सकेत है; जो जीवन को सब ओर से स्पर्श कर एष स्निग्ध उज्ज्वलता देनी है।

भारतीय दर्शन, काव्य आदि में इन तरल सामजस्य-भाव को भिन्न-भिन्न नामों से स्मरण किया है, पर वे हमें पूर्णतः भ्रम नहीं मने।

व्यक्तिगत सुख-दुःख की अभिव्यक्तियाँ भी मार्मिक हो सकी, पर वे छाया-युग के सर्ववाद से इस प्रकार प्रभावित हैं कि उन्हें स्वतंत्र अस्तित्व मिलना कठिन हो गया ।

व्यापक चेतना से व्यष्टिगत चेतना की एकता के भावने ने पुरानी रहस्य-प्रवृत्ति को नया रूप दिया । धर्म और समाज के क्षेत्र में विधि-विधान इतने कृत्रिम हो चुके थे कि जीवन उनसे विरक्त होने लगा । अपने व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक प्रभाव के कारण कवि के लिए, रहस्य संबंधी साधना-पद्धति को अपनाना सहज नहीं था; पर सामंजस्य की भावना और जीवनगत अपूर्णता की अनुभूति ने उसके काव्य पर कहर का ऐसा अंतरिक्ष बुन दिया, जिसकी छाया में दुःख ही नहीं सुख के भी सब रंग बनते-मिटते रहे ।

राष्ट्र की विषम परिस्थितियों ने भी छायायुग की कहरना में एक रहस्य-मयी स्थिति पाई । जैसे परम तत्त्व से तादात्म्य के लिए विकल आत्मा का क्रन्दन व्यापक है, वैसे ही राष्ट्र-तत्त्व की मुक्ति में अपनी मुक्ति चाहने वाली राष्ट्रात्मा का विषाद भी विस्तृत है ।

किसी भी युग में एक प्रवृत्ति के प्रधान होने पर दूसरी प्रवृत्तियाँ नष्ट नहीं हो जाती, गौण रूप से विकास पाती रहती हैं । छायायुग में भी यथार्थवाद, निराशावाद और सुखवाद की बहुत-सी प्रवृत्तियाँ अप्रधान रूप से अपना अस्तित्व बनाये रह सकी, जिनमें से अनेक अब अधिक स्पष्ट रूप में अपना परिचय दे रही हैं । स्वयं छायावाद तो कहरना की छाया में सौंदर्य के माध्यम से व्यक्त होने वाला भावात्मक सर्ववाद ही रहा है और उसी रूप में उसकी उपयोगिता है । इस रूप में उसका किसी विचारधारा या भावधारा से विरोध नहीं, वरन् आभार ही अधिक है, क्योंकि भाषा, छंद, कथन की विशेष शैली आदि की दृष्टि से उसने अपने प्रयोगों का फल ही आज के यथार्थवाद को सौंपा है ।

इस आदान से तो यथार्थान्मुखी विचारधारा का असहयोग नहीं, वह केवल उसकी आत्मा के उस अक्षय सौंदर्य पर आघात करना चाहती है, जो इस देश की सांस्कृतिक परंपरा की धरोहर है । जब तक इस आकाश में अनंत रंग हैं, इस पृथ्वी पर अनंत सौंदर्य है, जब तक यहां की ग्रामीणा कोकिला-काग से सदेश भेजना नहीं भूलती, किसान चंती चादनी और आकाश की घटाओं को मूर्तिमत्ता देना नहीं छोड़ता, तब तक काव्य में भी यह प्रवृत्ति रहेगी । छायावाद का भविष्य केवल यथार्थ के हाथ में भी नहीं, क्योंकि वह इस धरती और आकाश से बंधा है ।

सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से हमारे यहां का घोर अशिक्षित भी विशेष महत्त्व रखता है, क्योंकि दर्शन जैसे गूढ़ विषय से लेकर श्रम, जैसे सरल विषय तक उसकी अच्छी पहुंच है । हमारे सांस्कृतिक मूल्यों के पीछे कई हजार वर्ष

का इतिहास है, अतः इस मिट्टी के सब अणु उसका स्पर्श कर चुके हों तो आश्चर्य नहीं।

पुरातन सांस्कृतिक मूल्यों के सबघ में यदि आज का यथार्थवादी इस युग के सबसे पूर्ण और कर्मठ यथार्थदर्शी लेनिन के शब्दों को स्मरण रख सके, तो संभवतः वह यथार्थ का भी उपकार करेगा और अपना भी—

'We must retain the beautiful, take as it an example, hold on to it even though it is old Why turn away from real beauty, and discard it for good and all as a starting point for further development just because it is old ? Why worship the new as the god to be obeyed just because it is the new ? That is nonsense, sheer nonsense There is a great deal of conventional art hypocrisy in it too and respect for the art fashions of the west.'

(Lenin—the man)

(हमें, जो सुंदर है उस ग्रहण करना, आदर्शों के रूप में स्वीकार करना और सुरक्षित रखना चाहिए, चाहे वह पुराना हो। केवल पुरातन होने के कारण वास्तविक सौंदर्य में विरक्ति क्यों और नवीन के विकास के लिए उस सदा को त्याग देना अनिवार्य क्यों ? जिसका अनुशासन मानना ही होगा, ऐसे देवता व समान नवीनता की पूजा किसलिए ? यह तो अर्थहीन है—नितांत अर्थहीन। इस प्रवृत्ति में कला की रूढ़िगत कृत्रिमता और पश्चिम की कला रूढ़ियों के प्रति सम्मान का भाव ही अधिक है।)

आधुनिक युग का सबसे समर्थ कर्मनिष्ठ अध्यात्मद्रष्टा भी अपनी संस्कृति को महत्त्व देकर उसी वास्तविक सौंदर्य की ओर सकेत करता है—

'मेरा तो निश्चित मत है कि दुनिया में किसी संस्कृति का अस्तित्व इतना भरा-पूरा नहीं, जितना हमारी संस्कृति का। इस देश की संस्कृति में अनेक संस्कृति रूपी सहायक नदियाँ आकर मिली हैं। इन नदियों का संगम हमारे लिए हो सकता है तो यही कि हम सारी दुनिया को धुँधला दें। जीवन जड़ दीवारों से विभक्त नहीं किया जा सकता। समस्त कला का उद्देश्य जीवन का आविर्भाव है। हमारी अतः स्थ सुप्त भावनाओं को जगाना ही कला का सामर्थ्य जिसमें होता है वह कवि है। अपनी अपूर्णता महसूस करके, जीवन का पट्टा बदल दे।'

—प्रधान मंत्री

हम आधी-सूफान के ऐसे ध्वंसमय युग के बीच में हैं, जिन पार करके पर जीवन के सर्वतोन्मुख निर्माण का कार्य स्वयंसेवा ही नहीं कर सकते हैं।

उठेगा। निर्माण के संबंध में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि हम जीवन की मूल प्रवृत्तियों के दृष्टा नहीं बन सकते, केवल नवीन परिस्थितियों में उनका समुचित उपयोग ही हमारा सृजन कहा जाएगा। करुणा, प्रेम, द्वेष, क्रोध आदि मूल भावों पर सभी मनुष्यों का जन्माधिकार है, पर इन मूल भावों का विकास मानव ही नहीं, उसे घेरने वाले वातावरण पर भी निर्भर रहता है। इसी कारण किसी मनुष्य-समूह में चितनशीलता का आधिक्य मिलेगा, किसी में युद्ध-प्रेम ही प्रधान जान पड़ेगा, किसी में व्यवसाय-कौशल की ही विशेषता रहेगी और किसी में भावुक कलाकार ही सुलभ होंगे। बाह्य परिस्थितियों के कारण बहुत-सी स्वस्थ प्रवृत्तियाँ दब जाती हैं, बहुत-सी अस्वस्थ, प्रधानता पाने लगती हैं। जीवनव्यापी निर्माण के लिए इन्हीं प्रवृत्तियों की निष्पक्ष परीक्षा और उनका स्वस्थ उपयोग अपेक्षित रहेगा और इस कार्य के लिए ऐसे व्यक्ति अधिक उपयोगी सिद्ध होंगे, जो संपूर्ण अतीत को विक्षिप्तों की क्रियाशीलता कहकर छुट्टी नहीं पा लेते।

साहित्य, काव्य, कला आदि केवल मूल प्रवृत्तियों के विविध परिष्कार-क्रम के इतिहास हैं, अतः कलाकार इन प्रवृत्तियों को अपने युगविशेष की संपत्ति समझकर और अतीत के मारे सांस्कृतिक और साहित्यिक मूल्यों को भूलकर लक्ष्य तक नहीं पहुँच पाता।

पिछले अनेक वर्षों की विपन्न परिस्थितियों ने हमारे जीवन को छिन्न-भिन्न कर डाला है। कलाकार यदि उस विभाजन को और छोटे-छोटे खंडों में विभाजित करता रहे, तो वह जीवन के लिए एक नया अभिशाप सिद्ध होगा। उसे सामंजस्य की ओर चलना है, अतः जीवन की मूल प्रवृत्तियाँ, उनका सांस्कृतिक मूल्य, उन मूल्यों का, आज की परिस्थिति में उपयोग आदि का ज्ञान न रहने पर उसकी यात्रा भटकना मात्र भी हो सकती है।

केवल पुरातन या नवीन होने से कोई काव्य उत्कृष्ट या साधारण नहीं हो सकेगा, इसी से कवि-गुरु कालिदास को कहना पड़ा—

सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते

मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ।

अतीत और वर्तमान के आदान-प्रदान के संबंध में छायायुग के प्रतिनिधि कवि की इस उक्ति में सरल मॉर्दय ही नहीं मार्मिक सत्य भी है—

शिशु पाते हैं भाताओं के

वक्ष स्पल पर भूला गान,

माताएँ भी पाती शिशु के

अधरो पर अपनी मुस्कान !

—निराला Δ

प्रेम-संबंध के कारण, वैष्णव युग के उच्चतम कोटि तक पहुंचे हुए प्रणय-निवेदन से भिन्न नहीं।

आज गीत में जिसे हम रहस्यवाद के रूप में ग्रहण कर रहे हैं, वह इन सब की विशेषताओं से युक्त होने पर भी उन सबसे भिन्न है। उसने पराविद्या की अपारिध्वता ली, वेदांत के अद्वैत की छायामात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सबको कबीर के सांकेतिक दापत्य-भाव-मूत्र में बाधकर एक निराले स्नेह-संबंध की सृष्टि कर डाली, जो मनुष्य के हृदय को पूर्ण अवलंबन दे सका, उसे पारिध्व प्रेम से ऊपर उठा सका तथा मस्तिष्क को हृदयमय और हृदय को मस्तिष्कमय बना सका। इसमें संदेह नहीं कि इस वाद ने रुढ़ि बनकर बहुतांश को भ्रम में भी डाल दिया है, परंतु जिन इने-गिने व्यक्तियों ने इसे वास्तव में समझा, उन्हें इस नीहार लोक में भी गतव्य मार्ग स्पष्ट दिखाई दे सका। इस काव्य-धारा की अपारिध्व पारिध्वता और साधना-न्यूनता ने सहज ही सबको अपनी ओर आकर्षित कर लिया है, अतः यदि इसका रूप कुछ विकृत होता जा रहा है तो आश्चर्य की बात नहीं। हम यह समझा नहीं सके हैं कि रहस्यवाद आत्मा का गुण है, काव्य का नहीं।

यह युग पाश्चात्य साहित्य और बंगाल की नवीन काव्यधारा से परिचित तो था ही, साथ ही उसके सामने रहस्यवाद की भारतीय परंपरा भी रही।

जो रहस्यानुभूति हमारे ज्ञान-क्षेत्र में एक सिद्धांतमात्र थी, वही हृदय की कोमलतम भावनाओं में प्राण-प्रतिष्ठा पाकर तथा प्रेममार्गी सूफी सतों के प्रेम में अतिरजित होकर, ऐसे कलात्मक रूप में अवतीर्ण हुई, जिसने मनुष्य के हृदय और बुद्धिपक्ष दोनों को सतुष्ट कर दिया। एक ओर कबीर के हठयोग की साधना-रूपी सम-विषम शिलाओं से बंधा हुआ और दूसरी ओर जायसी के विशद प्रेम-विरह की कोमलतम अनुभूतियों की वेला में उन्मुक्त, यह रहस्य का समुद्र आधुनिक युग को बसा दे सका है, यह अभी कहना कठिन होगा। इतना निश्चित है कि इस वस्तुवाद-प्रधान युग में भी वह अनादृत नहीं हुआ, चाहे इसका कारण मनुष्य की रहस्योन्मुख प्रवृत्ति हो और चाहे उसकी लौकिक रूपकों में सुंदरतम अभिव्यक्ति।

इस बुद्धिवाद के युग में मनुष्य, भावपक्ष की सहायता से अपने जीवन को कसने के लिए कोमल कसौटिया बयो प्रस्तुत करे, भावना की साकारता के लिए अध्यात्म की पाठिका बयो खोजता फिरे और परोक्ष अध्यात्म को प्रत्यक्ष जगत में बयों प्रतिष्ठित करे, यह सभी प्रश्न सामयिक हैं, पर इनका उत्तर केवल बुद्धि से दिया जा सकेगा, ऐसा समझ नहीं जान पड़ता, क्योंकि बुद्धि का प्रत्येक समाधान अपने साथ प्रश्नों की बड़ी संख्या उत्पन्न कर लेता है।

साधारणतः अन्य व्यक्तियों के समान ही कवि की स्थिति भी प्रत्यक्ष जगत् की व्यष्टि और समष्टि दोनों ही में है। एक में वह अपनी इकाई में पूर्ण है और दूसरी में वह अपनी इकाई से बाह्य जगत् की इकाई को पूर्ण करता है। उसके अतर्जगत् का विकास ऐसा होना आवश्यक है, जो उसके व्यष्टिगत जीवन का विकास और परिष्कार करता हुआ, समष्टिगत जीवन के साथ उसका सामञ्जस्य स्थापित कर दे। मनुष्य के पास इसके लिए केवल दो ही उपाय हैं, बुद्धि का विकास और भावना का परिष्कार। परन्तु केवल बौद्धिक निरूपण जीवन के मूल तत्त्वों की व्याख्या कर सकता है, उनका परिष्कार नहीं, जो जीवन के सर्वतोन्मुखी विकास के लिए अपेक्षित है और केवल भावना जीवन को गति दे सकती है, दिशा नहीं।

भावातिरेक को हम अपनी क्रियाशीलता का एक विशिष्ट रूपांतर मान सकते हैं, जो एक ही क्षण में हमारे संपूर्ण अतर्जगत् को स्पर्श कर बाह्य जगत् में अपनी अभिव्यक्ति के लिए अस्थिर हो उठती है, पर बुद्धि के दिशा-निर्देश के अभाव में, इस भावप्रवेग के लिए अपनी व्यापकता की सीमाएँ खोज लेना कठिन हो जाता है, अतः दोनों का उचित मात्रा में सतुलन ही अपेक्षित रहेगा।

कवि ही नहीं, प्रत्येक कलाकार को अपने व्यष्टिगत जीवन को गहराई और समष्टिगत चेतना को विस्तार देने वाली अनुभूतियों को, भावना के साचे में ढालना पडा है। हमें निष्क्रिय बुद्धिवाद और स्पन्दहीन वस्तुवाद के लंबे पथ को पार कर, कदाचित् फिर चिर सवेदन रूप सक्रिय भावना में जीवन के परमाणु खोजने होंगे, ऐसी मेरी व्यक्तिगत धारणा है।

कविता के लिए आध्यात्मिक पृष्ठभूमि उचित है या नहीं, इसका निर्णय व्यक्तिगत चेतना ही कर सकेगी। जो कुछ स्थूल, व्यक्त, प्रत्यक्ष और यथार्थ नहीं है, यदि केवल वही अध्यात्म से अभिप्रेत है, तो हमें वह सौंदर्य, शील, शक्ति, प्रेम आदि की सभी सूक्ष्म भावनाओं में फैला हुआ, अनेक अव्यक्त सत्य सबंधी धारणाओं में अकुरित, इन्द्रियानुभूति प्रत्यक्ष की अपूर्णता से उत्पन्न उसी की परोक्ष रूप-भावना में छिपा हुआ और अपनी ऊर्ध्वगामी वृत्तियों से निर्मित विश्वबधुना, मानवधर्म आदि के ऊँचे आदर्शों में अनुप्राणित मिलेगा। यदि परंपरागत धार्मिक हृदियों को हम अध्यात्म की सज्ञा देते हैं, तो उस रूप में काव्य में उसका महत्त्व नहीं रहता। इस कथन में अध्यात्म की बलात् लोक-सप्रती रूप देने का या अस्वीकार करने का कोई आग्रह नहीं है। अवश्य ही वह अपने एकांतिक रूप में भी सफल है, परन्तु इस अरूप रूप की अभिव्यक्ति मौखिक रूपों में ही तो सम्भव होगी।

जायसी की परोक्षानुभूति चाहे जितनी ऐतानिक रही हो, परन्तु उनकी मिसल विरह की मधुर और मर्मस्पर्शिनी अभिव्यक्तता क्या किसी लोकोत्तर

लोक से रूपक लायी थी? हम चाहे आध्यात्मिक सकेतो से अपरिचित हों, परंतु उनकी लौकिक कला-रूप संप्राणता से हमारा पूर्ण परिचय है। कबीर की कांतिक रहस्यानुभूति के संबंध में भी यही सत्य है।

वास्तव में लोक के विविध रूपों की एकता पर स्थित अनुभूतियां लोक-विरोधिनी नहीं होती; परंतु ऐकांतिक रूप के कारण अपनी व्यापकता के लिए, वे व्यक्ति की कलात्मक सवेदनीयता पर अधिक आश्रित हैं। यदि ये अनुभूतियां हमारे ज्ञान-क्षेत्र में कुछ दार्शनिक सिद्धांतों के रूप में परिवर्तित न हो जावें, अध्यात्म की सूक्ष्म से स्थूल होती चलने वाली पृष्ठभूमि पर धारणाओं की रूढ़ि मात्र न बन जावें तो भावपक्ष में प्रस्फुटित होकर जीवन और काव्य दोनों को एक परिष्कृत और अभिनव रूप देती हैं।

हमारी अंतःशक्ति भी एक रहस्य से पूर्ण है और बाह्य जगत् का विकास-क्रम भी, अतः जीवन में ऐसे अनेक क्षण आते रहते हैं, जिनमें हम इस रहस्य के प्रति जागरूक हो जाते हैं। इस रहस्य का आभास या अनुभूति मनुष्य के लिए स्वाभाविक रही है, अन्यथा हम सभी देशों के समृद्ध काव्य-साहित्य में किसी न किसी रूप में इस रहस्यभावना का परिचय न पाते। न वही काव्य हेय है, जो अपनी साकारता के लिए केवल स्थल और व्यक्त जगत् पर आश्रित है और न वही, जो अपनी संप्राणता के लिए रहस्यानुभूति पर। वास्तव में दोनों ही मनुष्य के मानसिक जगत् की मूर्त्त और बाह्य जगत् की अमूर्त्त भावनाओं की कलात्मक समष्टि हैं। जब कोई कविता काव्यकला की सर्वमान्य कसौटी पर नहीं कसी जा सकती, तब उसका कारण विषय विशेष न होकर कवि और असमर्थता ही रहती है।

हमारे मूर्त्त और अमूर्त्त जगत् एक-दूसरे से इस प्रकार मिले हुए हैं कि एक का यथार्थदर्शी दूसरे का रहस्यद्रष्टा बनकर ही पूर्णता पाता है।

इस अखंड और व्यापक चेतना के प्रति कवि का आत्मसमर्पण संभव है या नहीं, इसका जो उत्तर अनेक युगों से रहस्यात्मक कृतियां देती आ रही हैं, वही पर्याप्त होना चाहिए। अलौकिक रहस्यानुभूति भी अभिव्यक्ति में लौकिक ही रहेगी। विश्व के चित्रफलक पर सौंदर्य के रंग और रूपों के रेखाजाल से बना चित्र, यदि अपनी रसात्मकता द्वारा हमारे लिए मूर्त्त का दर्शन और अमूर्त्त की भावना सहज कर देता है, तो तर्क व्यर्थ होगा। यह तो ऐसा है जैसे किसी के अक्षयघट से प्यास बुझा-बुझाकर विवाद करना कि उसने कूप क्यों खोदा जब धरती के ऊपर भी पानी था; क्योंकि उसने धरती के ही अंतर की अविभक्त सजलता का पता दिया है। पर यह सत्य है कि इस धरातल पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष का संबंध बनाए रखने के लिए बुद्धि और हृदय की असाधारण एकता चाहिए।

✓ अलौकिक आत्मसमर्पण को समझने के लिए भी लौकिक का सहारा लेना होगा। स्वभाव से मनुष्य अपूर्ण भी है और अपनी अपूर्णता के प्रति सजग भी। अतः किसी उच्चतम आदर्श, भव्यतम सौंदर्य या पूर्ण व्यक्तित्व के प्रति आत्मसमर्पण द्वारा पूर्णता की इच्छा स्वाभाविक हो जाती है। आदर्श-समर्पित व्यक्तियों में समार के असाधारण कर्मनिष्ठ मिलेंगे, सौंदर्य से तादात्म्य के इच्छुको में श्रेष्ठ कलाकारों की स्थिति है और व्यक्तित्व-समर्पण ने हमें साधक और भक्त दिए हैं।

अखण्ड चेतन से तादात्म्य का रूप केवल बौद्धिक भी हो सकता है, पर रहस्यानुभूति में बुद्धि का श्रेय ही हृदय का प्रेम हो जाता है। इस प्रकार रहस्य-वादी का आत्मसमर्पण बुद्धि की सूक्ष्म व्यापकता से सौंदर्य की प्रत्यक्ष विविधता तक फैल जाने की क्षमता रखता है, अतः उसमें सत् और चित् की एकता में आनन्द सहज संभव रहेगा।

रहस्योपासक का आत्मसमर्पण हृदय की ऐसी आवश्यकता है, जिसमें हृदय की सीमा, एक असीमता में अपनी ही अभिव्यक्ति चाहती है। हृदय के अनेक रागात्मक तत्वों में माधुर्यभावमूलक प्रेम ही उस सामंजस्य तक पहुँच सकता है, जो सब रेखाओं में रंग भर सके, सब रूपों को सजीवता दे सके और आत्मनिवेदक को इष्ट के साथ समता के घरातल पर खड़ा कर सके। भक्त और उसके इष्ट के बीच में वरदान की स्थिति संभव है, जो इष्ट नहीं, इष्ट का अनुग्रहदान कहा जा सकता है। माधुर्यभावमूलक प्रेम में आधार और आश्रय का तादात्म्य अपेक्षित है और यह तादात्म्य उपासक ही सहज कर सकता है, उपास्य नहीं। इगो में तन्मय रहस्योपासक के लिए आदान संभव नहीं, पर प्रदान या आत्मदान उसका स्वभावगत धर्म है।

अनंत रूपों की समष्टि के पीछे छिपे चेतन का तो कोई रूप नहीं। अतः उससे निवृत्त ऐसा माधुर्यभावमूलक आत्मनिवेदन कुछ उलझन उत्पन्न करता रहा है। यदि हम ध्यान से देखें तो स्थूल जगत् में भी ऐसा आत्मसमर्पण मनुष्य के अतर्जगत् पर ही निर्भर मिलेगा। एक व्यक्ति जिसने निवृत्त अपने आपकी पूर्ण रूप से निवेदित करके सतोष का अनुभव करता है, वह सौंदर्य, गुण, शक्ति आदि की दृष्टि में सबको विशिष्ट जान पड़े, ऐसा कोई नियम नहीं। प्रायः एक के अद्भुत स्नेह, भक्ति का आधार, दूसरे के सामने इतने अपूर्ण और मापारण रूप में उपस्थित हो सकता है कि वह उसे किसी भाव का आलम्बन ही न स्वीकार करे। कारण स्पष्ट है। मनुष्य अपने अतर्जगत् में जो कुछ भव्य छिपाए हुए है, वह जिसमें प्रतिबिम्बित जान पड़ता है, उससे निवृत्त आत्मनिवेदन स्वाभाविक ही रहेगा। परन्तु यह आत्मनिवेदन सामानाज्य आत्मसमर्पण से भिन्न है क्योंकि सामानाज्य अतर्जगत् के सौंदर्य की साधारणता नहीं देखती, किसी स्थूल अभाव की

आया हूँ ।)

ऋग्वेद के इस रहस्यात्मक अंकुर ने दर्शन और काव्य में जैसी विविधता पाई है, वह प्रत्येक जिज्ञासु के लिए विशेष आकर्षण रखती है ।

जैसे-जैसे यह हृदयगत आकुलता मस्तिष्क की सीमा के भीतर प्रवेश पाती जाती है, वैसे-वैसे एक चिंतन-प्रधान जिज्ञासा अमरवेलि के समान फैलने लगती है, अतः कवि प्रकृति के विविध रूपों पर चेतना का आरोप करके ही संतुष्ट नहीं होता । वह इस सबध में क्या और क्यों भी जानना चाहता है ।

क्व प्रेप्तन्ती युवती विरूपे अहोराने द्रवतः संविदाने ।

यत्र प्रेप्तन्तीरभिन्यापः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्वित्देवः सः ॥

ऋ० १०-७-६

(विपरीत रूप वाले, गौर और श्याम दिन-रात कहा पहुंचने की अभिलाषा करके जा रहे हैं ? वे सरिताएं जहां पहुंचने की अभिलाषा से चली जा रही हैं ? उम परम आश्रय को बताओ । वह कौन है ?)

क्व प्रेप्तन् दीप्यत ऊर्ध्वो अग्निः क्व प्रेप्तन् पवते मातरिदया ।

यत्र प्रेप्तन्तीरभिन्यावृतः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्वित्देवः सः ॥

अथर्व १०-७-४

(यह सूर्य किसकी अभिलाषा में दीप्तिमान् है ? यह पवन कहा पहुंचाने की इच्छा से निरंतर बहता है ? यह सब जहां पहुंचने के लिए चले जा रहे हैं, उस आश्रय को बताओ । वह कौन-सा पदार्थ है ?)

इस जिज्ञासा ने आगे चलकर व्यापक चेतन तत्त्व को, प्रकृति के माध्यम से भी व्यक्त किया है और उसके बिना भी, अतः उसकी सर्ववाद और आत्मवाद संबंधी दो शाखाएं हो गईं ।

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः ।

अग्नि यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥

अथर्व १०-७-३३

(सूर्य और पुन-पुन नवीन रूप में उदित होनेवाला चंद्रमा जिसकी दो आंखों के समान हैं, जो अग्नि को अपने मुख के समान बनाए हुए है, उस परम तत्त्व को नमन है ।)

यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम् ।

दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥

अथर्व १०-७-३२

(भूमि जिसके चरण हैं, अंतरिक्ष उदर है और आकाश जिसका मस्तक है, उस परम शक्ति को नमन है ।)

इसकी छाया हमें गीता के सर्ववाद में मिलती है ।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहु शशिसूर्यनेत्रम् ।

पश्यामि त्वा दीप्तहुताशवक्त्र स्वतेजसा विश्वमिद तपन्तम् ॥

(तुम्हारा आदि, मध्य और अवसान नहीं है, तुम अनन्त शक्तियुक्त और अनन्त मुजाबो वाले हो, सूर्य चंद्र तुम्हारे नेत्र हैं, दीप्ति अग्नि मुख है। अपने तेज से विश्व को उद्भाषित करने वाले। मैं तुम्हें देख रहा हूँ।)

यह सर्ववाद अधिक भागवत होकर भारतीय काव्य में प्रकृति और जीवन को विविधता में एकता देता रहा है।

इस प्रवृत्ति ने प्रकृति में दिव्य शक्तियों का आरोप भी सहज कर दिया है और उसे मानव जीवन के पग से पग मिलाकर चलने का अधिकार भी दे डाला है। हम मानव की बाह्य रूपरेखा के समान उसके अतर्निहित सौंदर्य को भी प्रत्यक्ष देखते हैं और हृदय की घड़कन के समान उसके गूढ स्पन्दन का भी अनुभव करते हैं।

संस्कृत काव्यों में प्रकृति की सजीव रूपरेखा, उसका मानव सुख-दुःखों के स्वर से स्वर मिलाना, जीवन का पग-पग पर उससे सहायता मागना, इसी प्रवृत्ति के भिन्न रूप हैं।

सकृत्ला के साथ चलने वाले वृक्ष-लता क्यों इतने सजीव हैं कि वह उनसे विदा मागे बिना पति के घर भी नहीं जा सकती, उत्तररामचरित की नदिया क्यों इतनी सहानुभूतिशील हैं कि एकाकिनी सीता के लिए सखिया बन जाती हैं, यश के निकट भेष क्यों इतना अपना है कि वह उसे अपने विरही हृदय की गूढ़ व्यापा का बाहुक बना लेता है आदि प्रश्नों का उत्तर, उसी प्रवृत्ति में मिलेगा जो चेतनतत्त्व को विश्वरूप देखती है।

चित्तन की ओर बढ़नेवाली जिज्ञासा ने भौतिक जगत् का बम से बम सहारा लेते हुए चेतना की एकता और व्यापकता स्थापित करने की चेष्टा की है—

एक पाद नोत्खिदति सलिलाढस उच्चरन ।

यदग स तनुस्त्रिदेनैवाद्य न प्व स्यान्न रात्रि नाह स्यान्न व्युच्छेत् षडाचन् ॥

अथर्व० ११-४-२१

[यह हंस (चेतन तत्त्व) एक पैर जल से (सतार से) ऊपर उठाकर भी डूमरा जल में स्थिर रहता है। यदि वह उस चरण को भी उठा ले (मोक्षरूप में पूर्णतः अलग हो जावे) तो न आज रहे न कल रहे, न रात्रि हो न दिन हो, न कभी उपावास हो सके।]

बालादेवमणीयस्वमुत्तम नैव दृश्यते ।

सत परिष्वत्रीयसी देवता सा मम प्रिया ॥

अथर्व० १०-८ २५

(एक वस्तु जो बाल से अत्यंत सूक्ष्म और वह भी एक हो तो वह नहीं के समान दिखाई देती है; तब जो उससे भी सूक्ष्म वस्तु के भीतर व्यापक और अति सूक्ष्मतम सत्ता है, वह मुझे प्रिय है।)

क्रमशः इस सूक्ष्म सत्ता पर बुद्धि का अत्यधिक अधिकार होने के कारण प्रेम भाव के लिए कही स्थान नहीं रहा—

वेदोहं सूत्रं वितत यस्मिन्नोता. प्रजा इमाः।

सूत्र सूत्रस्याहं वेदायो यद् ब्राह्मणं महत् ॥

अथर्व० १०-८-३८

(मैं उम व्यापक सूत्र को जानता हूँ जिसमें यह प्रजा गुथी हुई है। मैं सूत्र के भी सूत्र को जानता हूँ जो सबसे महत् है।)

परंतु तत्त्वदर्शक इस परम महत् के सनातन रूप को भी अपनी विविधता में चिर नवीन देखता है।

सनातनमेनमानहुस्ताद्य स्यात् पुनर्णवः।

अहोरात्रे प्र जायेते अन्यो अन्यस्य रूपयोः ॥

अथर्व० १०-८-२३

(वह परम तत्त्व सनातन कहा जाता है। पर वह तो आज भी नया है, जैसे दिन-रात बराबर नये-नये उत्पन्न होते हैं, पर रूपों में एक-दूसरे के समान होते हैं।)

यही भाव उपनिषदों में मिलता है—

ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्यं स उ इवः एतद्वैतत् ।

—का० उप०

जब चेतन की व्यापकता और जड़ की विविधता की अनुभूति, हमारा हृदय करता है, तब वह रूपों ही के माध्यम से अरूप का परिचय देता है। इस क्रम से काव्य और कलाओं की सृष्टि स्वाभाविक है; क्योंकि वे सत् या व्यापक सत्य को सौंदर्य की विभिन्नता में अनुवादित करने का लक्ष्य रखती हैं। परंतु जब इसी सत्य को मस्तिष्क अपनी सीमा में घेर लेता है, तब वह सूक्ष्म से सूक्ष्म सूत्र के महारे रूप-सर्माष्टि को एकता प्रमाणित करना चाहता है। इस क्रम से हमारे दर्शन का विकास होता है, क्योंकि उसका उद्देश्य रूपों की विविधता को परम तत्त्व में एकरम कर देना है।

इस प्रकार हमारी रहस्यभावना चित्तन में सूक्ष्म अरूपता ग्रहण करने लगी। वह खो नहीं गई, क्योंकि उपनिषद् का अर्थ ही रहस्य है। ब्रह्म और जगत की सापेक्षता, आत्मा और परमात्मा की एकता आदि ने दर्शन की विविध शैलियों को जन्म दिया है।

कर्मकाण्ड के विस्तार से यके हुए कुछ मनीषियों ने चित्तन पद्धति के द्वाय ही आत्म का चरम विकास संभव समझा। इनके साथ वह पक्ष भी रहा जो

कुछ योग क्रियाओं और अभ्यासों द्वारा आत्मा को दिव्य शक्ति-सपन्न बनाने में विश्वास रखता था—दूसरे अर्थ में वह कर्मकांड के रूप में परिवर्तन चाहता था, उमका अभाव नहीं। एक कर्म-पद्धति भौतिक सिद्धियों के लिए थी, दूसरी आत्मिक ऋद्धियों के लिए। इसी में अंत में साधनात्मक रहस्यवाद, ब्रह्मयानी शैव, तान्त्रिक आदि संप्रदायों में, ऐसे भौतिक धरातल पर उतर आया कि वह स्थूल सुखवाद का साधन बनाया जाने लगा।

अष्टाचक्र नवद्वारा देवाना पूरयोद्धया।

(अष्ट चक्र नव द्वारों वाली यह इन्द्रिगणों की अजेय पुरी है।)

पुण्डरीक नवद्वार त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।

—अथर्व०

(नवद्वार वाला यह श्वेतकमल है जो सत्त्व, रज, तम तीन गुणों से ढका हुआ है।)

उपर्युक्त पक्तियों में शरीर-यत्र की जो रहस्यात्मकता वर्णित है, उसने ऐसा विस्तार पाया, जो आत्मा को सबसे ऊपर परम व्योम तक पहुँचाने का साधन भी हुआ और नीचे पाताल से बाध रखने का कारण भी।

रहस्य के दर्शन के प्रहरी हमारे चित्तनशील मनीषी रहे। उपनिषदों और विशेषतः वेदान्त दर्शन ने आत्मा और परम तत्त्व के संबन्ध को उत्तरोत्तर परिष्कृत किया है। उपनिषद् हमारे पद्य और गद्य के बीच में स्थिति रखते हैं।

सूक्ष्म तत्त्व को प्रकट करने के लिए उनकी सकेतात्मक शैली, अतर्जगत में चद्भासित सत्य को स्पष्ट करने वाली रूपकावली, शाश्वत् जीवन से संबन्ध रखने-वाले सरल उपाख्यान आदि विशेषताएँ, उन्हें वाक्य की सीमा से बाहर नहीं जाने देंगी और उनका तत्त्वचिंतन, उनके सिद्धांत संबंधी सवाद, उनका शुद्ध तर्कवाद आदि गुण उन्हें गद्य की परिधि में रखेंगे।

कर्म को प्रधानता देने वालों के विपरीत तत्त्वचित्तकों ने अत-करणशुद्धि, ध्यान, मनन आदि को परम सत्ता तक पहुँचाने वाला साधन ठहराया—

धनुर्गहीत्वोपनिषद महास्त्र

घार ह्यपासानिहित सन्धयीत।

आयम्य तद्भावगतेन चेतसा

लदय तदेवाशर मौम्य विद्धि ॥

[हे मौम्य ! उपनिषद् (ज्ञान) महास्वरूप धनुष लेकर उम पर उपामना रूप-तीक्ष्ण बाण चढ़ा और फिर ब्रह्मभावानुगत चित्त से उसे मीचकर अशर लदय का वेध कर।]

रहस्यवाद में जो प्रवृत्तियाँ मिलती हैं, उन सबके मूल रूप हमें उपनिषदों की विचारधारा में मिल जाते हैं। रहस्यभावना के लिए द्वैत की स्थिति भी

वश्यक है और अद्वैत का आभास भी, क्योंकि एक के अभाव में विरहो की
 अनुभूति असंभव हो जाती है और दूसरे के बिना मिलन की इच्छा आधार ख
 ती है ।

द्वैती के लिए तत्त्वचित्तक अपनी सांकेतिक शैली में कहता है—

द्वा सुपर्णा समुज सखाया
 समान वृक्षं परिपस्वजाते ।
 तयोरन्यः पिप्पलु स्वाद्वत्स्य-
 नदनन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

—मु० उप०

(साथ रहने और समान आख्यान वाले दो पक्षी एक ही तरह पर रहते हैं ।
 मैं एक स्वादिष्ट फल खाता है और दूसरा भोग न करके देखता रहता है ।)

आत्मा और परम तत्त्व की एकता भी अनेक रूपों में व्यक्त की गई

तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि ।

छा० उप०

(वह सत्य है, आत्मा है, वह तू है ।)

नेह नानास्ति किंचन ।

—क० उप०

(यहां नानारूप कुछ नहीं है ।)

अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेदा ।

—वृ० उप०

(वह अन्य है, मैं अन्य हूँ, जो यह जानता है वह नहीं जानता ।)

रहस्यवादियों के समान ही अनेक तत्त्वदर्शक भी इच्छा के द्वारा ही आत्मा
 र परमात्मा की एकता संभव समझते हैं—

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः ।

—मु० उप०

[जिस परमात्मा को यह (आत्मा) वरण करता है, उस वरण के द्वारा ही
 परम तत्त्व प्राप्त हो सकता है ।]

इस एकता के उपरांत आत्मा और ब्रह्म में अंतर नहीं रहता । आत्मा अपनी
 ताधियां छोड़कर परम सत्ता में वैसे ही लीन हो जाता है—

यथा नद्यः स्पन्दमानः समुद्र-

स्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।

(जैसे निरंतर बहती हुई सरिताएं नाम-रूप त्यागकर समुद्र में विलीन हो
 ती हैं ।)

उसी चेतन तत्त्व से सारा विश्व प्रकाशित है—

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं

तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।

उसके प्रकाशित होने से सब कुछ प्रकाशित होता है । (सारा ससार उसी से आलोकित है ।)

अपर्युक्त पवित्रता हमें कबीर के 'लाली मेरे लाल की जित देखीं तित लाल' का स्मरण करा देती हैं ।)

वह परम सत्ता के निकट होकर भी दूरी का भास देती है ।

सूक्ष्माच्च सूक्ष्मतरं विभाति

दूरात् सुदूरे तद्विहस्तिके च ।

—मु० उप०

(वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर भासमान् होता है और दूर से भी दूर, पर इस शरीर में अत्यंत समीप भी है ।)

जायसी ने 'पिय हिरदै महें मॅट न होई' में जो कुछ व्यक्त किया है, उसे बहुत पहले उपनिषद्काल का मनीषी भी कह चुका था । वेद का सर्ववाद भी उपनिषदों के चिंतन में विशेष महत्त्व रखता है ।

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वे-

ऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः ।

(इसी से समस्त समुद्र और पर्वत उत्पन्न हुए हैं, इसी से अनक रूप वाली नदियां प्रवाहित हैं ।)

तदेतस्मत्प यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिगा ।

—मु० उप०

(वही सत्य है । उसी ज्योतिर्मय से सब ऐसे उत्पन्न हुए हैं, जैसे प्रदीप्त अग्नि से उसी के समान रूपवाले सहस्रा स्फुलिग ।)

रहस्यवादियों ने परम तत्त्व और आत्मा के बीच में माधुर्यभावमूलक संबन्ध की स्थापना के लिए, उन दोनों में पुरुष और नारी-भाव का आरोप किया है । इस कल्पना की स्थिति के लिए जो घरातल आवश्यक था, वह तत्त्वचिंतक द्वारा निमित्त हुआ है । सांख्य ने जडत्व को त्रिगुणात्मक प्रकृति और विकार-शून्य चेतन-तत्त्व को पुरुष ही सजा दी है, अतः इन सजाओं ही में इस प्रकार का अंतर उत्पन्न हो गया, जो पुरुष और नारी रूप की कल्पना ही महज कर दे । जड़ तत्त्व से उत्पन्न प्राणि-जगत् भी प्रजा और मृष्टि कहनाता रहा ।

आत्मा अपने भीमिष्ठ रूप में जड़ में बसा है, अतः प्रकृति की उपाधियां उसे मिल जाने के कारण, वह भी परम पुरुष के निकट प्रकृति का परिचय लेकर

उपस्थित होने लगा ।

आत्मा को चिति के रूप में ग्रहण करने वाले मनीषी भी उसके स्वभाव का आभास देने के लिए नारी सजाओं का प्रयोग करने लगे ।

इयं कल्याणजरा मृत्यस्यामृता गृहे ।

—अथर्व०

(यह कल्याणी, कभी जीर्ण न होने वाली और मरणशील शरीर में अमृता नित्य है ।

ऋग्वेद के मनीषी भी कही-कही अपनी बुद्धि या मति के लिए वरणीय वधु का प्रयोग करते हैं ।

इस सबध में जो आत्मसमर्पण का भाव है उसके भी कारण हैं । जो सीमित है, वही असीम में अपनी मुक्ति चाहता है, पर इस मुक्ति को पाने के लिए उसे अपनी सीमा का समर्पण करना ही होगा । नदी समुद्र में मिलकर अथाह हो जाती है, परंतु इस लक्ष्य की प्राप्ति तब तक संभव नहीं जब तक वह अपनी नाम-रूप आदि सीमाएं समुद्र को समर्पित न कर दे ।

समर्पण के भाव ने भी आत्मा को नारी की स्थिति दे डाली । सामाजिक व्यवस्था के कारण नारी अपना कुल, गोत्र आदि परिचय छोड़कर पति को स्वीकार करती है और स्वभाव के कारण उसके निकट अपने आपको पूर्णतः समर्पित कर उस पर अधिकार पाती है । अतः नारी के रूपक से सीमाबद्ध आत्मा का असीम में लय होकर असीम हो जाना सहज ही समझा जा सकता है ।

आत्मा और परमात्मा के इस माधुर्यभावमूलक संबध ने सगुणोपासना पर भी विशेष प्रभाव डाला है । सगुण-भक्त द्वैत को लेकर चलता है । एक सीमा दूसरी सीमा में अपनी अभिव्यक्ति चाहती है । एक अपूर्ण व्यक्तित्व दूसरे पूर्ण व्यक्तित्व के स्पर्श का इच्छुक है । भक्त विवश सीमाबद्ध है और इष्ट परम तत्त्व की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए स्वेच्छा से सीमाबद्ध है, पर हैं तो दोनों सीमाबद्ध ही । ऐसी स्थिति में उनके बीच में सभी मानवीय सबध संभव हैं । पर माधुर्य-भावमूलक सबध तो लौकिक प्रेम के बहुत समीप आ जाता है, क्योंकि लौकिक प्रेम के परिष्कृततम रूप में, प्रेमपात्र भी परम तत्त्व की अभिव्यक्तियों में पूर्ण अभिव्यक्ति बन जाने की क्षमता रखता है ।

दक्षिण की अदास, उत्तर की मीरा, बगाल के चैतन्य आदि में हमें कृष्ण पर आश्रित माधुर्यभाव के उज्ज्वल रूप मिलते हैं । परंतु स्थूल धरातल पर उत्तर-कर माधुर्यभावमूलक उपासना हमें देवदासियों के विवश करण जीवन और सप्रदायो में प्रचलित सुखवाद के ऐसे चित्र भी दे सकी, जो भक्ति की स्वच्छता में मलिन धब्बे जैसे लगते हैं ।

भारतीय रहस्यभावना मूलतः बुद्धि और हृदय की सधि में स्थिति रखती

है। एक से यह सूक्ष्म तत्त्व की व्यापकता नापती है और दूसरे से व्यक्त जगत् की गहराई की चाह लेती है। यह समन्वय उमके भावावेग को बुद्धि की सीमा नहीं तोड़ने देता और बुद्धि को भाव की असीमता रोकने के लिए तट नहीं बाधने देता। रहस्यानुभूति भावावेश की आधी नहीं, चरन् ज्ञान के अनंत आकाश के नीचे अजस्र प्रवाहमयी त्रिवेणी है, इसी से हमारे तत्त्वदर्शक बौद्धिक तथ्य को हृदय का सत्य बना सके। बुद्धि जब अपनी हार के क्षणों में थके स्वर में कहती है—अविज्ञात विज्ञानताम् (जानने वालों को वह ब्रह्म अज्ञात है), तब हृदय उसकी हार को जय बनाता हुआ विश्वास-भरे कंठ से उत्तर देता है—तत्त्वमसि (तुम स्वयं वही हो)।

बौद्ध और जैन मतों पर भी उपनिषदों की रहस्यभावना का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा।

वेदात का अहंकार, मनस् और विज्ञान के शून्य आत्मन्, उस आत्मा से भिन्न है जो इनकी समष्टि है। चरम विकास के उपरांत आत्मन् की शून्य व्यापकता, बौद्ध मत के उस निर्वाण के निकट पहुँच जाती है जो विकास क्रम के अंत में बोधिसत्त्व (विकास-क्रम में बंधे जीव) को एक शून्य स्थिति में मुक्ति देता है। 'सर्वभूतहित' और 'मा हिंस्यात्' की भावना बुद्ध-मत की महामंत्री और महाकरुणा में इतना विस्तार पा गई कि वह चरम विकास तक पहुँचाने वाला साधन ही नहीं, उमका लक्षण भी बन गई। अन्य मतों में करुणा परम तत्त्व से तादात्म्य का माध्यम मात्र है, पर बुद्ध की विचारधारा में वह परम तत्त्व का स्थान ही ले लेती है। करुणा किमी परम तत्त्व से तादात्म्य के लिए स्थिति नहीं रखती, चरन् वह बोधिसत्त्व की स्थिति के अभाव का साधन और उनके चरम विकास का परिचय है। सबके प्रति महामंत्री और महाकरुणा से युक्त होकर ही बोधिसत्त्व बुद्ध होता और निर्वाण तक पहुँचता है। इस प्रकार अभाव तक पहुँचाने वाला यह भावजगत्, परम तत्त्व की व्यापकता में अपने आपको खो देनेवाले रहस्यवादी के विश्वव्यापी प्रेमभाव से विचित्र साम्य रखता है।

बौद्ध धर्म अज्ञान और तृष्णा को दुःख का कारण मानता है, जो उपनिषदों में मिलने वाली अविद्या और काम के रूपांतर हैं। अंतःकरण की शुद्धि को प्रधानता देने वाले मनीषियों के गमान बुद्ध ने भी कर्मकांड को महत्त्व नहीं दिया। पर बुद्ध मत का साधना त्रय योग के साधना-त्रय से भिन्न नहीं रहा। ज्ञान के व्यापक स्पर्श को खोकर बौद्धों में भी एक ऐसा संप्रदाय उत्पन्न हो गया, जो साधना प्राप्त तिष्ठियों का प्रयोग भौतिक सुख-भोग के लिए करने लगा।

जैन मत ने 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना को चरम सीमा तक पहुँचा दिया और ब्रह्म की एवता को नया रूप दिया। जीवन के चरम विकास के उपरांत के शून्य या स्थिति के अभाव को न मानकर उमके व्यापक भाव को मानते

हैं। जगत् में सब जीवों में ईश्वरता है और पूर्ण विकास के उपरांत जीव किसी परम तत्त्व से तादात्म्य न करके स्वयं असीम और व्यापक स्थिति पा लेता है।

जैन धर्म का साधना-क्रम अतःकरण की बुद्धि के साथ शारीरिक तप को विशेष महत्त्व देता है।

नामरूप में सीमित किसी व्यक्तिगत परमात्मा को न मानकर अपनी शून्य और असीम व्यापकता में विश्वास करने वाले इन मतों और अपने आपको किसी निर्गुण तथा निराकार व्यापकता का अंश मानने वाले और उसमें अपनी लय को, धरम विकास समझने वाले रहस्यवादियों में जो समानता है, उसे सांप्रदायिक विद्वेषों ने छिपा डाला। एक पक्ष, नास्तिक धर्म की परिधि में घिरा है, दूसरा धर्महीन दर्शन की परिभाषा में बंधा है, पर इन सबके मूलगत तत्त्व एक ही चिंतन-परंपरा का पता देते हैं। जीवन के कल्याण के प्रति सतत जागरूकता सब जीवों के प्रति स्नेह, कृपा और मंत्री का भाव, पारलौकिक सुख-दुःख के प्रतीक स्वर्ग-नरक में अनास्था, साधना का अतर्मुखी क्रम आदि, भारतीय तत्त्व-चिंतन की अपनी विशेषताएँ हैं।

हमारे तत्त्व-चिंतकों की बुद्धि सूक्ष्म से सूक्ष्मतर महाशून्य को सब ओर से स्पर्श कर कल्याण का ऐसा बादल घेर लाती है जो जीवन की स्थूल धरती पर बरसकर ही सार्यकना पाता है। हमारे यहाँ नास्तिकता बुद्धि की वह निर्ममता है, जो कल्याण की खोज में किसी भी बाधा को नहीं ठहरने देना चाहती, अतः वह जीवन संवधी आस्था से इस तरह भरी रहती है कि उसे शून्य मानना कठिन है।

पश्चिम में प्लेटो और प्लोटिनस ने जिस रहस्य-भावना को जन्म और विकास दिया, वह ब्रह्म और जीव को एकता पर आश्रित न होकर ब्रह्म और जगत् के विष-प्रतिविष-भाव में स्थिति रखती है। दूसरे शब्दों में जगत् का तत्त्व-रूप ब्रह्म है और ब्रह्म का छायारूप जगत्। ऐसी स्थिति में आत्मा-परमात्मा की अद्वैत स्थिति का धरम विकास सहज न हो सका। इस प्रवृत्ति से जो कल्पना, प्रधान रहस्य-भाव उत्पन्न हुआ, उसका प्रभाव दर्शन से लेकर रोमांटिक काव्य तक मिलता है। इस्लाम और ईसाई मतों पर भी इसकी छाया है, पर उन पर भारतीय रहस्य-चिंतन का भी कम प्रभाव नहीं।

ईसाई मत का रहस्यवाद एक विशेष स्थिति रखता है। वह धर्म की परिधि में उत्पन्न हुआ और वही रहा, अतः स्वयं एक संप्रदाय के भीतर संप्रदाय बन गया। धर्म और रहस्यभावना में विरोध न होने पर भी वे एक नहीं हो सकते। धर्म बाह्य जीवन में सामंजस्य लाने के लिए विधिनिषेधात्मक सिद्धांत भी देता है और सबके कारणभूत तत्त्व को एक निश्चित व्यक्तित्व देकर हमारे विश्वास में प्रतिष्ठित भी करता है। रहस्य का अर्थ वहाँ से होता है, जहाँ धर्म की इति है। रहस्य का उपासक हृदय में सामंजस्यमूलक परम तत्त्व की अनुभूति

प्राप्त करता है और वह अनुभूति परदे के भीतर रखे हुए दीपक के समान अपने प्रशांत आभास से उसके व्यवहार को स्निग्धना देती है। रहस्यवादी के लिए नरक, स्वर्ग, मृत्यु, अमरता, परलोक, पुनर्जन्म आदि का कोई महत्त्व नहीं। उसकी स्थिति में केवल इतना ही परिवर्तन संभव है कि वह अपनी सीमा को अपने असीम तत्त्व में खो सके।

पश्चिमीय रहस्यवाद के प्रवेशद्वार पर हम प्लोटिनस (Plotinus) के उपरांत डायोनिसियस (Dionysius) का रहस्यमय व्यक्तित्व पाते हैं, जिसने मध्य-युग के समस्त रहस्य चिंतन को प्रभावित किया है। यह रहस्यवादी होने के साथ-साथ ईसाई धर्म का विश्वासी अनुयायी भी था, अतः इसकी चिंतन-मद्वति दोनों को समान महत्त्व देती चलती है।

ईसाई मत की पहली धार्मिक कठोरता ने मनुष्य में किसी ऐसे नित्य और अक्षर तत्त्व को नहीं स्वीकार किया था, जो परमात्मा से एक हो सके। डायोनिसियस भारतीय ऋषियों के समान ही, मनुष्य को शरीर, जीवात्मा और आत्मा के साथ देखता है। वह आत्मा ऐसी नित्य और अक्षर है जैसा परमात्मा, अतः दोनों का तादात्म्य संभव है। परमात्मा को आत्मा से एक कर देने का साधन प्रेम है। डायोनिसियस कहता है— 'It is the nature of love to change a man into which he loves' (प्रेम का यह स्वभाव है कि वह मनुष्य को उसी वस्तु में बदल देता है, जिससे वह स्नेह करता है।)

परमात्मा के सन्ध में उसका मत है— 'If any one sees God and understands what he sees, he has not seen God at all' (यदि कोई परमात्मा को देखता है और उसे अपने दृष्टि विषय का ज्ञान है तब उसने उसे देखा ही नहीं। हमारे तत्त्वदर्शी भी स्वीकार करते हैं— 'यस्यामत तस्य मत मत यस्य न वेद स (जिनको ज्ञात नहीं उसको ज्ञात है, जिनको ज्ञात है वह उसे नहीं जानता)।

स्वर्ग-नरक के संवध में उसके जो विचार हैं, वे रहस्यवादियों की विचार-परंपरा से साम्य रखते हैं— 'To be separated from God is hell and the sight of God's Countenance is heaven' (परमात्मा से दूरी नरक और उसका दर्शन स्वर्ग है।)

एकहार्ट (Eckhart) भी आत्मा-परमात्मा की एकता और इन आत्मा में तादात्म्य सहज करने वाली शक्ति की स्थिति मानता है—

'There is no distinction left in soul's consciousness between itself and God' (आत्मा की जागृति में परमात्मा और आत्मा में अंतर नहीं रहता।

माध्यमभाव पर आधुनिक और धर्म-विरोध में मीमिन इन रहस्यवाद ने एक

ऐसी उपासना पद्धति को जन्म दिया, जिसमें उपासक, वधू के रूप में आत्मसमर्पण द्वारा प्रभु से तादात्म्य प्राप्त करने लगे। इन आध्यात्मिक विवाह के इच्छुक उपासक और उपासिकाओं के लिए जो साधनाक्रम निश्चित था, उनका अभ्यास मठों के एकांत में ही संभव था। यह रहस्योपामना हमारी माधुर्यभावमूलक सगुणोपामना के निकट है। महात्मा ईश्वर की स्थिति हमारे अवतारवाद से भिन्न नहीं और उनकी साकारता के कारण यह रहस्योपामक भक्त ही कहे जाएंगे। आराध्य जब नाम-रूप से बंधकर एक निश्चित स्थिति पा गया, तब रहस्य का प्रश्न ही नहीं रहा।

पश्चिम के काव्य में मिलने वाली रहस्य-भावना उस प्रकृतिवाद से संबंध रखती है, जिसमें प्रकृति का प्रत्येक अंग सजीव और स्वतंत्र स्थिति रखता है। प्रकृति के हर रूप में सजीवता देख लेना ही रहस्यानुभूति नहीं है, क्योंकि रहस्य में प्रकृति की खड्ड-सजीवता एक व्यापक परम तत्त्व की अखंड सजीवता पर आधित रहती है, जो आत्मा का प्रेम है। सजीव जंतुओं का समूह शरीर नहीं कहा जाएगा, पर जब अनेक अंग एक की सजीवता में सजीव हों तब वह शरीर है। रहस्यवादी के लिए विश्व ऐसी ही एक सजीव स्थिति में रहता है। ब्रेक, वड्डस्वर्य जैसे कवि एक ओर प्रकृतिवादी हैं। और डूमरी और जगत् और ब्रह्म के द्वि-प्रतिद्वि भाव से प्रभावित कल्पनाशील रहस्यवादी। इस रहस्य-भावना में परम तत्त्व से आत्मा की एकता का चरम विकास भी सहज नहीं और परम तत्त्व के प्रति आत्मा के तीव्र प्रेम-भाव की स्थिति भी कठिन है।

सूफियों का रहस्यवाद इससे कुछ भिन्न और भारतीय रहस्य-चित्तन के अधिक निकट है।

इस्लाम के एकेस्वरवाद में भाव की श्रैद्धा के लिए स्थान नहीं। प्रकृति भी इतनी विविधरूपी और समृद्ध नहीं कि मनुष्य के भावजगत् का व्यापक आधार बन सके। अतः हृदय का भावावेग सहस्र-सहस्र धाराओं से फैलकर मानवीय सबधों को बहुत तीव्रता से घेरता रहा। काव्य में मिलन-विरह संबंधी कल्पना, अनुभूति आदि का जैसा विस्तार मिलता है, उससे भी यही निष्कर्ष निकलेगा।

भारतीय चित्तन-पद्धति के समान वहाँ तत्त्व-चित्तन का क्षेत्र इतना विस्तृत नहीं हुआ था, जिसमें मनुष्य अपनी बुद्धिवृत्ति को स्वच्छंद छोड़ सके। सत्ता और उसमें व्याप्त सत्ता के सबध में कोई जिज्ञासा या रहस्य की अनुभूति होने पर उसकी अभिव्यक्ति के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ आ उठस्यत होनी थी। धर्म की सीमा के भीतर विश्वास का कठोर दामन होने के कारण, ऐसी अनुभूतियाँ वहाँ प्रवेश नहीं पा सकती थी और लौकिक प्रेम की सकीर्ण परिधि में स्थूल की प्रधानता के कारण उनकी स्थिति संभव नहीं रहती थी।

हमारे कर्मकांड की एकरसता के विरोध में जैसे भावात्मक ज्ञानवाद का विकास हुआ, धर्मगन शुष्कता की प्रतिक्रिया में वैसे ही सूफियों से दर्शनात्मक हृदयवाद का जन्म हुआ। भारतीय वेदात ने उन्हें बहुत प्रभावित किया, क्योंकि वह बुद्धि और हृदय दोनों के लिए ऐसा क्षितिज खोल देता है, जिसमें व्यापकता भी विविध रंगमयी है।

यहां के तत्त्व-चिंतकों के समान सूफी भी हक, बदा और शैतान के रूप में परमात्मा आत्मा और अविद्या की स्थिति स्वीकार करते हैं।

'तद्भवगतेन चेतसा' के द्वारा मनीषियो ने जो संकेत किया है, उसको सूफियों में अधिक भावात्मक रूप मिल गया। इस प्रेम-तत्त्व के द्वारा सूफी परम आराध्य से एक हो सकता है। 'स यो ह वै तत्पर ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' (जो निश्चयपूर्वक उस ब्रह्म को जान लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है) की प्रतिध्वनि हम सूफी अक्षर के शब्दों में मिलती है—'प्रेम में मैं और तू नहीं रहते! अहं प्रेम के आधार में लय हो जाता है।'।

इसी प्रकार शब्दतरी का कथन है—'मैं और तू में कोई अंतर नहीं। एकता में किसी प्रकार का अंतर होता ही नहीं है। जिसके हृदय से द्वैत निकल गया, उसकी आत्मा से 'अहम् ब्रह्मास्मि' की ध्वनि गूजने लगती है।' परम तत्त्व से छूटे हुए मनीषियो के समान ही रूमी वियोग के सबध में कहता है, 'जो पुरुष अपने मूल तत्त्व से छूट गया है, उसको उससे पुनर्मिलन की चिंता रहती है।'।

'ये एपीऽतर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्ज्योते' (यह जो हृदय के भीतर का आकाश है वह (ब्रह्म) उमी में सोता है) को तत्त्वतः ग्रहण कर लेने पर बाहर के उपासना विधान की आवश्यकता नहीं रही। पर अतः शुद्धि के लिए दूसरी अतर्मुखी साधना पद्धति का विकास होना अनिवार्य हो गया। योग के साधनात्मक रहस्यवाद ने सूफियों की साधना-पद्धति को विशेष रूप-रेखा दी है। तुरीयावस्था तक पहुँचने के पहले आत्मा की अवस्थाएँ, समाधि तक पहुँचने के पूर्व साधना का आरोह श्रम आदि का जैसा रहस्यात्मक विस्तार योग में हुआ है, उसी को सूफियों ने स्वीकृति दी है। पर उनका व्यष्टिगत प्रिय हमारे तत्त्व-दर्शन के समष्टिगत श्रेय का रूप नहीं पा सका।

सूफ (मफेद ऊन) का वस्त्र पहनने वाले इन फकीर रहस्यद्वेषियों की स्थिति हमारे मनीषियो से भिन्न रही। इन्हें बहुत विरोध का सामना करना पड़ा जो इस्लाम धर्म का रूप देखने हुए स्वाभाविक भी था।

यहां 'अनलहव' कहने वाला धर्म का विरोधी बनकर उपस्थित होता है, पर यहाँ 'अहं ब्रह्मास्मि' पुकारने वाला तत्त्वदर्शी की पदवी पाता है, क्योंकि हमारे यहाँ ब्रह्मरूप श्रेय बन जाना ही आत्मरूप प्रिय का धरम सिद्ध है।

इसके अतिरिक्त भारतीय रहस्यप्रवृत्ति लोक के निकट अपना इतना रहस्य खोल चुकी थी कि उसका द्रष्टा अमामाजिक प्राणी न माना जाकर सबका परम आत्मोपमाना गया। सूफी संतों की परिस्थितियों ने उन्हें लोक से दूर स्थिति देकर उनके प्रेम को अधिक ऐकांतिक विकास पाने दिया; इसी से तत्त्वचिंतक बाहर के विरोधों की चर्चा नहीं करते, पर सूफियों की रचनाओं में लोक-कठोरता का व्योरा भी मिलता है।

परंतु इन्हीं कारणों ने सूफियों के काव्य को अधिक भ्रमस्पर्शिता भी दे डाली। तत्त्वचिंतन की विकसित प्रणाली न होने के कारण उन्होंने परम तत्त्व की व्यापकता की अनुभूति और उसमें तादात्म्य की इच्छा को विशुद्ध भाव-भूमि पर ही स्थापित किया, अतः उनके विरह-मिलन की सांकेतिक अभिव्यक्तियां अपनी अलौकिकता में भी लौकिक हैं।

हिंदी काव्य में रहस्यवाद वहां से आरंभ होता है, जहां दोनों ओर के तत्त्वदर्शी एक असीम आकाश के नीचे ही नहीं, एक सीमित धरती पर भी साथ खड़े हो सके। अतः दोनों ओर की विशेषताएं मिलकर गंगा-जमुना के संगम से घनी त्रिवेणी के समान एक तीसरी काव्यधारा को जन्म देती हैं। इस काव्यधारा के पीछे ज्ञान के हिमालय की शत-शत तुपार-धवल उन्नत चोटियां हैं और आगे भाव की हरी-भरी पुष्पदुकूलिनी असीम धरती। इसी से इसे निरंतर गतिमय नवीनता मिलती रह सकती।

भारतीय रहस्यचिंतन में एक विशेषता और है। उसके समर्थक हर बार क्रांति के स्वर में बोलते रहे हैं। रुढ़िप्रस्त धर्म, एकरम कर्मकांड और बद्धमूल अंधविश्वास के प्रति वे कितने निर्मम हैं, जीवन के कल्याण के प्रति कितने कोमल हैं और विचारों में कितने मौलिक हैं, इसे उपनिषद्काल की विचार-धाराएं प्रमाणित कर सकेंगी। जीवन से उनका कोई ऐसा समझौता संभव ही नहीं, जो सत्य पर आश्रित न हो।

धर्म की दुर्लभ्य प्राचीरों और कर्मकांड की दुर्गम सीमाएं पार कर मुक्त आकाश में गुजने वाला रहस्यद्रष्टा का स्वर हमें चींका देता है—

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।

पत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ॥ ईशावास्य उप०

(जो मनुष्य आत्मा का स्वभाव जानता है, जो सब भूतों में उसकी व्याप्ति का ज्ञान रखता है, उस एकत्व के द्रष्टा के लिए भ्रांति कैसी, खिन्नता क्यों ?)

बुद्धि के ऐसे मूढ़म स्तर पर भी तत्त्वदर्शक जीवन की यथार्थता नहीं भूलता, अतः इसी उपनिषद् में 'कुर्वन्नेवेहि कर्माणि जिजिषे'... आदि में हम पाते हैं— 'यहां कर्म करता हुआ जीने की इच्छा कर। मनुष्यत्व का अभिमान रखने वाले ! तेरे लिए अन्य मार्ग नहीं है, नहीं है।'

रुद्धिया आदि अचल हैं, तो रहस्यदर्शकों के स्वर में शत-शत निर्भरो का वेग है, जीवन यदि विषम है, तो उनकी दृष्टि में अनंत आकाश का मजस्य है और धर्म यदि सकीर्ण है, तो उनके आत्मवाद में समीर का एक स्पर्श है।

इसी से प्रसिद्ध पश्चिमीय दार्शनिक शोपेनहार (Schopenhauer) कहता

‘In the world there is no study so beneficial and so elevating as that of the Upanishads .. They are a product of the highest wisdom .. It is destined sooner or later to become the religion of the people.’

(संसार में उपनिषदों के समान उपयोगी और उदात्त बनाने वाला अन्य अध्ययन नहीं। वे उत्कृष्ट ज्ञान के परिणाम हैं। आगे या पीछे यही जनता धर्म होगी, यह निश्चित है।)

हिंदी के रहस्यवाद के अर्थ के साथ हमें कबीर में ऐसे शक्ति-द्रव्य के प्रति होते हैं, जिन्होंने जीवन के निम्नतम स्तर को ऊँचाई बना लिया, अपनी शिक्षा को आलोक में बदल दिया और अपने स्वर से वातावरण की जड़ता शत-शत स्पर्शों से भर दिया।

कबीर तथा अन्य रहस्यदर्शी सतों और सगुण भक्तों में विशेष अंतर है। सगुण उपासक यदि प्रज्ञात स्निग्ध आभा फैलाने वाला नक्षत्र है, तो रहस्य-दर्शा अपने पीछे आलोक पुंज की प्रज्वलित लीक खींचने वाला उत्का-पिंड। उनकी गति में निश्चल स्थिति से हमारा चिर-परिचय है, अतः हम इच्छानुसार आँखें ऊपर उठाकर देख भी सकते हैं और अनदेखा भी कर सकते हैं। खुद दूसरा हमारे दृष्टिपथ में ऐसे आकस्मिक वेग के साथ आता है कि उनकी गतिमय स्थिति, पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति के समान ही हमारी दृष्टि को आकर्षित लेती है। उसके विद्युत-वेग को देखने का प्रश्न हमारी रुचि और विद्या की अपेक्षा नहीं करता। सगुण गायक हमारे साथ-साथ जीवन की रागिनी बजाता और पथ बताता हुआ चलता है। पर रहस्य का अन्वेषक बहो दूर अंधकार खड़ा होकर पुकारता है— चले आओ, थकना हार है, रुकना मृत्यु है।

युग के उपरांत छायावाद के प्रतिनिधि कवियों ने भी इस विचारधारा को विद्युत्स्पर्श अनुभव किया और यह न कहना अन्याय होगा कि उन्होंने इस परंपरा को अक्षुण्ण रखा। अनेक क्रूर विरोध और विवेकशून्य आघातों के उपरांत भी उनमें कोई दीनता नहीं, जीवन से उनका कोई मस्ता समझौता नहीं और कल्याण के लिए उनके निकट कोई अर्पण मूल्य नहीं।

संभवतः पारस को छूकर सोना न होना लोहे का हाथ नहीं रहता— भारतीय सत्त्व-दर्शन ऐसा ही पारस रहा है □

गीति-काव्य

मनुष्य के सुख-दुःख जिस प्रकार चिरंतन है, उनकी अभिव्यक्ति भी उतनी ही चिरंतन रही है; परंतु यह कहना कठिन है कि उन्हें ध्वनित करने के साधनों में प्रथम कौन था ?

संभव है जिस प्रकार प्रभात की सुनहली रश्मि छूकर चिड़िया आनंद में चहचहा उठती है और मेघ को घुमड़ता-धिरता देखकर मयूर नाच उठता है, उसी प्रकार मनुष्य ने भी पहले-पहले अपने भावों का प्रकाशन ध्वनि और गति द्वारा ही किया हो। विशेषकर स्वर-सामंजस्य में बंधा हुआ गेय काव्य मनुष्य-हृदय के कितना निकट है, यह उदात्त-अनुदात्त स्वरो से बंधे वेदगीत तथा अपनी मधुरता के कारण प्राणो में समा जाने वाले प्राकृत-पदों के अधिकारी हम भली भाँति समझ सकते हैं।

प्राचीन हिंदी-साहित्य का भी अधिकांश गेय है। तुलसी का इष्ट के प्रति विनीत आत्म-निवेदन गेय है, कबीर का बुद्धिगम्य तत्त्वनिदर्शन सगीत की मधुरता में बसा हुआ है, सूर के कृष्ण-जीवन का बिलखर इतिहास भी गीतमय है और मीरा की व्यथासक्ति पदावली तो सारे गीत-जगत् की सम्राज्ञी ही कही जाने योग्य है।

सुख-दुःख की भावावेशमयी अवस्था विशेष का, गिने-चुने शब्दों में स्वर-माधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है। इसमें कवि को संयम की परिधि में बंधे हुए जिस भावातिरेक की आवश्यकता होती है वह सहज प्राप्य नहीं, कारण हम प्रायः भाव की अतिशयता में कला की सीमा लाप जाते हैं और उसके उपरांत, भाव के मस्कारमात्र में मर्मस्पर्शिता का शिथिल हो जाना अनिवार्य है। उदाहरणार्थ—दुःखातिरेक की अभिव्यक्ति आर्त कंदन या हाहाकार द्वारा भी हो सकती है जिसमें सयम का नितान्त अभाव है, उसकी अभिव्यक्ति नेत्रों के सजल हो जाने में भी है जिसमें संयम की अधिकता के माघ आवेग के भी अपेक्षाकृत सवत हो जाने की संभावना रहती है, उसका प्रकाशन एक

दीर्घ निश्वास में भी है जिसमें समय की पूर्णता भावातिरेक को पूर्ण नहीं रहने देती और उसका प्रकटीकरण निस्तब्धता द्वारा भी हो सकता है जो निष्क्रिय बन जाती है।

वास्तव में गीत के कवि को आर्त्त ऋदन के पीछे छिपे हुए भावातिरेक को, दीर्घ निश्वास में छिपे हुए समय से बाधना होगा, तभी उसका गीत दूसरे के हृदय में उभी भाव का उद्रेक करने में सफल हो सकेगा।

गीत यदि हमारे का इतिहास न रहकर वैयक्तिक सुख-दुःख ध्वनित कर सके, तो उमकी भाूमिकता विस्मय की वस्तु बन जाती है, इसमें सदेह नहीं। मीरा के हृदय में बँठी हुई नारी और विरहिणी के लिए भावातिरेक सहज प्राप्य था, उनके बाह्य राजरानीपन और आतरिक साधना में संयम के लिए पर्याप्त अवकाश था। इसके अतिरिक्त वेदना भी आत्मानुभूति थी, अतः उसका 'हेली में तो प्रेम दिवाणी मेरा दरद न जाने कोय' सुनकर यदि हमारे हृदय का तार-तार, उस ध्वनि को दोहराने लगता है, रोम-रोम उनकी वेदना का स्पर्श कर लेता है तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं।

सूर का संयम भावों की कोमलता और भाषा की मधुरता के उपयुक्त ही है, परंतु क्या इतनी पराई है कि हम बहने की इच्छामात्र लेकर उसे सुन सकते हैं, बहते नहीं और प्रातःस्मरणीय गोस्वामी जी के विनय के पद तो आकाश की मदाकिनी बहै जा सकते हैं, हमारी कभी गंदली, कभी स्वच्छ धेगवती सरिता नहीं। मनुष्य की चिरतन अपूर्णता का ध्यान कर उनके पूर्ण इष्ट के सम्मुख हमारा मस्तक थड़ा से, विनय से नत हो जाता है, परंतु प्रायः हृदय कातर ऋदन नहीं कर उठता। इसके विपरीत, कबीर के रहस्य-भरे पद हमारे हृदय को स्पर्श कर सीधे बुद्धि से टकराते हैं। अधिन्तर हममें उनके विचार ध्वनित हो उठते हैं, भाव नहीं, जो गीत का लक्ष्य है।

व्यक्तिप्रधान भावात्मक काव्य का वही अंश अधिक से अधिक अशस्तल में समा जाने वाला, अनेक झूले सुख-दुःखों की स्मृतियों में प्रतिध्वनित हो उठने के उपयुक्त और जीवन के लिए कोमलतम स्पर्श के समान होगा, जिसमें कवि ने गतिमय आत्मानुभूत भावातिरेक को सत्य रूप में व्यक्त कर उसे अमर कर दिया हो या जिसे व्यक्त करते समय वह अपनी साधना द्वारा किसी बीते क्षण की अनुभूति की पुनरावृत्ति करने में सफल हो सका हो। केवल सस्कारमात्र भावात्मक कविता के लिए सफल साधन नहीं है और न किसी बीती अनुभूति की उतनी ही तीव्र भावसिक पुनरावृत्ति ही सबके लिए सब अवस्थाओं में सुलभ मानी जा सकती है।

हिंदी-काव्य का वर्तमान नवीन युग गीतप्रधान ही कहा जाएगा। हमारा व्यस्त और व्यक्तिप्रधान जीवन हमें काव्य के किसी और अंग की ओर दृष्टिपात

करने का अवकाश ही नहीं देना चाहता। आज हमारा हृदय ही हमारे लिए सप्ताह है। हम अपनी प्रत्येक सांस का इतिहास लिख रखना चाहते हैं, अपने प्रत्येक कपन को अंकित करने के लिए उत्सुक हैं और प्रत्येक स्वप्न का मूल्य पा लेने के लिए विकल हैं। संभव है, यह उस युग की प्रतिक्रिया हो, जिसमें कवि का आदर्श अपने विषय में कुछ न रहकर संसार-भर का इतिहास कहना था, हृदय की उपेक्षा कर शरीर को आदृत करना था।

इस युग के गीतों की एकरूपता में भी ऐसी विविधता है, जो उन्हें बहुत काल तक सुरक्षित रख सकेगी। इसमें कुछ गीत मलय समीर के झोंके के समान हमें वाहुर से स्पर्श कर अंतर तक सिहरा देते हैं, कुछ अपने दर्शन से बोझिल पंखों को, हमारे जीवन को सब ओर से छू लेना चाहते हैं, कुछ किमी अलक्ष्य डाली पर छिपकर बैठी हुई कोकिल के समान हमारे ही किसी भूले स्वप्न की कथा कहते रहते हैं और कुछ मंदिर के पूत धूप-धूम के समान हमारी दृष्टि को धुंधला, रंतु मन को सुरक्षित किए बिना नहीं रहते।

काव्य की ऊंची-ऊंची हिमालय-श्रेणियों के बीच में गीतिमुक्ता एक सजल होमल मेघखंड है, जो न उनसे दबकर टूटता और न बधकर रुकता है, प्रत्युत हर किरण से रंगस्नात होकर उन्नत चोटियों का शृंगार कर आता है और हर एक झोंके पर उड़-उड़कर उस विशालता के कोने-कोने में अपना स्पन्द ढुंकाता है।

साधारणतः गीत वैयक्तिक अनुभूति पर इतना आश्रित है कि कथा-गीत और नीति-पद तक अपनी संवेदनीयता के लिए, व्यक्ति की भावभूमि की उपेक्षा करते हैं। अलौकिक आत्मसमर्पण हो या लौकिक स्नेह-निवेदन, तार्कालिक उल्लास-विपाद हो या शादवत् सुख-दुखों का अभिव्यजन, प्रकृति का सौंदर्य-दर्शन हो या उस सौंदर्य में चैतन्य का अभिनय, सबमें गेयता के लिए हृदय अपनी णी में समार-कथा कहता चलता है। संसार के सुख से हृदय की कथा, इतिहास अधिक है, गीत कम।

आज हम ऐसे बौद्धिक युग में से जा रहे हैं, जो हृदय को मामल यत्र और इसकी कथा को वैज्ञानिक आविष्कारों की पद्धति मात्र समझता है, फलतः गीत में स्थिति कठिन से कठिनतर होती जा रही है।

गेयता में ज्ञान का क्या स्थान है, यह भी प्रश्न है। बुद्धि के तर्क-क्रम से जस ज्ञान की उपलब्धि हो सकती है, उसका भार गीत नहीं सभाल सकता; पर तर्क से परे इंद्रियों की सहायता के बिना भी हमारी आत्मा अनायास ही जस सत्य का ज्ञान प्राप्त कर लेती है, उसकी अभिव्यक्ति में गेय स्वर-सामग्र्य में विशेष महत्त्व रहा है। वेद-गीतों के विश्वचित्तन से संतों के जीवन-दर्शन क फैली हुई हमारी गीत-परंपरा इस आत्मानुभूत ज्ञान की आभारी है। पर

यह आत्मानुभूत ज्ञान आत्मा के सस्कार और व्यक्तिगत साधना पर इतना निर्भर है कि इसकी पूर्ण प्राप्ति और सफल अभिव्यक्ति सबके लिए सहज नहीं। इसी कारण वेदकालीन मनीषियों का आत्मानुभूत ज्ञान और उसकी सामञ्जस्यपूर्ण अभिव्यक्ति सब युगों में संभव न हो सकी।

रहस्य-गीतों का मूलाधार भी आत्मानुभूत अखंड चेतना है, पर वह साधक की मिलन-विरह की मार्मिक अनुभूतियों में इस प्रकार घुल-मिल सका कि उसकी अलौकिक स्थिति भी लोक-सामान्य हो गई। भावों के अनंत वैभव के माध्य ज्ञान की अखंड व्यापकता की स्थिति वैसी ही है जैसी, कहीं रगीन, कहीं सितासित, कहीं सपन, कहीं हल्के, कहीं चादनीघोत और कहीं अश्रुस्नात बादलों से छाए आकाश की होती है। व्यक्ति अपनी दृष्टि को उस अनंत रूपात्मकता के किसी भी खंड पर ठहराकर आकाश पर भी ठहरा लेता है। अत आनंद और विषाद की मर्मनुभूति के साथ-साथ, उसे एक अव्यक्त और व्यापक चेतन का स्पर्श भी मिलता रहता है। पर ऐसे गीतों में निर्गुण ज्ञान और सगुण अनुभूति का जैसा सतुलन अपेक्षित है, वैसा अन्य गीतों में आवश्यक नहीं, क्योंकि आधार यदि बहुत प्रत्यक्ष हो उठे, तो बुद्धि उसे अपनी परिधि से बाहर न जाने देगी और भाव यदि अव्यक्त सूक्ष्म हो जावे, तो हृदय उसे अपनी सीमा में न रख सकेगा। रहस्य-गीतों में आनंद की अभिव्यक्ति के सहारे ही हम चित् और सत् तक पहुंचते हैं।

सगुणोन्मुख गीतों में सत्-चित् की रूप-प्रतिष्ठा के द्वारा ही आनंद की अभिव्यक्ति संभव हो सकती है, इसी से कवि को बहुत अतर्मुखी नहीं होना पड़ता। यह रूपाधार के परिचय द्वारा हृदय के मर्म तक पहुंचने का सहज मार्ग पा लेता है। सगुण गायक अनेक रंग लेकर एक सीमित चित्रफलक को रंगता है, अत वह उम निर्गुण गायक से भिन्न रहेगा, जिसके पाम रंग एक और चित्र-पट शून्य असीम है। एक की निपुणता रंगों के अभिनव चटकीलेपन पर निर्भर है और दूसरे की, रेखाओं की चिर नवीन अनतता पर। भक्त यदि जीवनदर्शी है, तो उसके गीत की सीमित लौकिकता से असीम अलौकिकता वैसे ही बंधी रहेगी, जैसे दीप की लौ से आलोक-मंडल, और यदि रहस्यद्रष्टा तन्मय आत्म-निवेदक है, तो उसके गीत की अलौकिक असीमता से, लौकिक सीमाएँ वैसे ही फूटती रहेंगी, जैसे अनंत समुद्र में हिलोरें।

वास्तव में सगुण-गीत में जीवन की विस्तृत कयात्मकता के लिए भी इतना स्थान है कि वह लोर-गीत के निकट आ जाता है। लोक-गीत की सुलभ इतिवृत्तात्मकता का इसे कम भय है और उसकी भावों की अतिसाधारणता का खटक भी अधिक नहीं, पर उसकी मरल सवेदनीयता की सब सीमाओं तक उसकी पहुंच रहती है। हमारी गीत-परंपरा विविधरूपी है, पर उसका वही रूप

पूर्णतम है, जो भावभूमि का सच्चा स्पर्श पा सकता है। गीत का चिरंतन विषय रागात्मिका वृत्ति से संबध रखनेवाली सुख-दुःखात्मक अनुभूति ही रहेगी। परंतु अनुभूति मात्र गीत नहीं, क्योंकि गेयता तो अभिव्यक्ति-सापेक्ष है। साधारणतः गीत व्यक्ति सीमा में तीव्र सुख-दुःखात्मक अनुभूति का वह शब्दरूप है, जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।

पिछली दुःख-रागिनी का वायुमंडल और आज की दुःख-कथा का धरातल भी ध्यान देने योग्य है। बाह्य सप्तार की कठोर सीमाओं और अतर्जगत् की असीमता की अनुभूति ने उस दुःख को एक अतर्मुखी स्थिति दे दी थी। ऐसा दुःख प्रायः जीवन के आंतरिक सामंजस्य की प्राप्ति का लक्ष्य लेकर चलता है। फलतः उसकी संवेदनीयता में गति की वैसी ही मर्मस्पर्शिता रहती है, जिसे कालिदास ने—

रम्याणि व्रीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दा-

न्यर्मुत्सको भवति यत्सुमितोऽपि जन्तुः । ”

आदि के द्वारा व्यक्त किया है और वैसी ही व्यापकता मिलती है, जिसकी ओर भवभूति ने 'एको रस करुण एव निमित्तभेदात्' कहकर संकेत किया है। ऐसी वेदना को दूसरे के निकट संवेदनीय बनाने के लिए अपने हृदय की अतल गहराई की अनुभूति आवश्यक है और उसे व्यापकता देने के लिए जीवन की एकता का भावना।

आज के दुःख का संबध जीवन के स्थूल धरातल की विषमता से रहता है, अतः समष्टि को आर्थिक आधार पर बाह्य सामंजस्य देने का आग्रह, इसकी विशेषता है। इस धरातल पर यह सहज नहीं कि एक की असुविधा की अनुभूति दूसरे में वैसी ही प्रतिध्वनि उत्पन्न कर सके। जिन क्षणों में भोजन की इच्छा नहीं, उनमें एक व्यक्ति के लिए अन्य दुःख, चिंता आदि की अनुभूति जैसी सहज है, वैसी भूख की व्यथा की नहीं। परंतु उन्हीं परिस्थितियों में यह अनुभूति तब स्वाभाविक हो जाएगी, जब वह दूसरे सुमुक्षित से सच्चा तादात्म्य प्राप्त कर सके। आखों से दूर बाहर गाने वाले की करुण रागिनी हममें प्रतिध्वनित होकर एक अव्यक्त वेदना जगा सकती है, परंतु प्रत्यक्ष ठिठुरते हुए नग्न भिस्तारी का दुःख तब तक हमारा न हो सकेगा, जब तक हमारा उससे वास्तविक तादात्म्य न हो जावे। व्यावहारिक जीवन में भी हमारे भौतिक अभाव उन्हीं को अधिक स्पर्श करते हैं, जो हमारे निकट होते हैं; जो दूरत्व के कारण ऐसे तादात्म्य की शक्ति नहीं रखते, उनके निकट हमारी पार्श्वव असुविधाओं का मुख्य नहीं।

लक्ष्यतः एक होने पर भी अतर्जगत् के नियम को भौतिक जगत् नहीं करता। उनमें हमें अपनी गहराई में दूसरों को खोजना पड़ता है और इ

पूर्णतम है, जो भावभूमि का सच्चा स्पर्श पा सकता है। गीत का चिरतन विषय रागात्मिका वृत्ति से संबंध रखनेवाली सुख-दुःखात्मक अनुभूति ही रहेगी। परंतु अनुभूति मात्र गीत नहीं, क्योंकि गेयता तो अभिव्यक्ति-सापेक्ष है। साधारणतः गीत व्यक्ति सीमा में तीव्र सुख-दुःखात्मक अनुभूति का वह शब्दरूप है, जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।

पिछली दुःख-रागिनी का वायुमंडल और आज की दुःख-कथा का धरातल भी ध्यान देने योग्य है। बाह्य ससार की कठोर सीमाओं और अंतर्जगत् की असौमता की अनुभूति ने उस दुःख को एक अंतर्मुखी स्थिति दे दी थी। ऐसा दुःख प्रायः जीवन के आंतरिक सामग्रस्य की प्राप्ति का लक्ष्य लेकर चलता है। फलतः उसकी सवेदनीयता में गति की वैसी ही मर्मस्पर्शिता रहती है, जिसे कालिदास ने—

रम्याणि वीक्ष्य भधुरांश्च निशम्य शब्दा-

न्यर्युत्मको भवति यस्मुसितोऽपि जन्तु । ..

आदि के द्वारा व्यक्त किया है और वैसी ही व्यापकता मिलती है, जिसकी ओर भवभूति ने 'एको रस करुण एव निमित्तभेदात्' कहकर संकेत किया है। ऐसी वेदना को दूसरे के निकट सवेदनीय बनाने के लिए अपने हृदय की अतल गहराई की अनुभूति आवश्यक है और उसे व्यापकता देने के लिए जीवन की एकता का भावन।

आज के दुःख का संबंध जीवन के स्थूल धरातल की विषमता से रहता है, अतः समष्टि को आर्थिक आधार पर बाह्य सामग्रस्य देने का आग्रह, इसकी विशेषता है। इस धरातल पर यह सहज नहीं कि एक की असुविधा की अनुभूति दूसरे में वैसी ही प्रतिध्वनि उत्पन्न कर सके। जिन क्षणों में भोजन की इच्छा नहीं, उनमें एक व्यक्ति के लिए अन्य दुःख, चिंता आदि की अनुभूति जैसी सहज है, वैसी भूख की व्यथा की नहीं। परंतु उन्हीं परिस्थितियों में यह अनुभूति तब स्वाभाविक हो जाएगी, जब वह दूसरे वुमुक्षित में सच्चा तादात्म्य प्राप्त कर सके। आखों से दूर बाहर गाने वाले की करुण रागिनी हममें प्रतिध्वनित होकर एक अव्यक्त वेदना जगा सकती है, परंतु प्रत्यक्ष ठिठुरते हुए नग्न भित्तारी का दुःख तब तक हमारा न हो सकेगा, जब तक हमारा उससे वास्तविक तादात्म्य न हो जावे। व्यावहारिक जीवन में भी हमारे भौतिक अभाव उन्हीं को अधिक स्पर्श करते हैं, जो हमारे निकट होते हैं; जो दूरत्व के कारण ऐसे तादात्म्य की शक्ति नहीं रखते, उनके निकट हमारी पार्थिव असुविधाओं का विशेष मूल्य नहीं।

लक्ष्यतः एक होने पर भी अंतर्जगत् के नियम को भौतिक जगत् नहीं स्वीकार करता। उनमें हमें अपनी गहराई में दूसरों को खोजना पड़ता है और इसमें दूसरों

की अनेकता में अपने आपको खो देना। दूसरे की आँखें भर लाने के लिए हमें अपने आसुओं में डूब जाने की आवश्यकता रहती है, परंतु दूसरे के डबडबाये हुये नेत्रों की भाषा समझने के लिए हमें अपने सुख की स्थिति को, दूसरे के दुःख में डूबा देना होगा। जब एक व्यक्ति दूसरे के दुःख में अपने दुःख को मिलाकर बोलता है, तब उसके कंठ में दो का बल होगा, जब तीसरा उन दोनों के दुःख में अपना दुःख मिलाकर बोलता है, तब उसके कंठ में तीन का बल होगा और इसी क्रम से जो असंख्य व्यक्तियों के दुःख में अपना दुःख खोकर बोलता है, उसके कंठ में असीम बल रहना अनिवार्य है।

अतर्जगत में यह व्यापकता गहराई का रूप लेकर व्यष्टि से समष्टि तक पहुंचती है। सफल गायक वही है जिसके गीत में सामान्यता हो, अर्थात् जिसकी भावतीव्रता में दूसरों को अपने सुख-दुःखा की प्रतिध्वनि मुन पड़े और यह तब स्वतः संभव है, जब गायक अपने सुख दुःखों की गहराई में डूबकर या दूसरे के उल्लास विपाद से सच्चा तादात्म्य कर गाता है।

भारतीय गीति परंपरा आरंभ में ही बहुत समृद्ध रही, अतः उसका प्रभाव सब युगों के गीतों को विविधता देता रह सका। ऐसा गीति माहित्य जिसमें सूक्ष्म ज्ञान का असीम विस्तार, प्रकृति रूपों की अनंतता और भाव का बहुरंगी जगत् सभाला हो, आगत काव्य-युगा पर प्रभाव डालने बिना नहीं रहता।

तत्त्व का छाया और भाव की धरती पर विकास पाने के कारण यहाँ वाणी को बहुत परिष्कृत रूप और जीवन का निश्चित स्पंदन मिल सका। इसी से उच्चारण में एक वर्ण की मूल अक्षम्य और ध्वनि में एक कण की त्रुटि अमह्य हो उठती थी।

पावका न सरस्वती वाजे वाजिनवती

महो अणं सरस्वती प्रचतयति केतुना

ऋग्वेद १-३-१०, १२

(हमारी वाणी पवित्र करने वाली और ऐश्वर्यमयी है। यह सरस्वती ज्ञान के महासागर तक पहुंचाने में समर्थ है।)

यही पवित्रता अधिक सूक्ष्म रूप में शब्द को ब्रह्म की सजा तक पहुंचाने में सहायक हुई। गीत की शक्ति वाणी से अधिक थी, क्योंकि वह शब्दों के ध्वनि को लय में सतरण देकर उनकी व्यापकता और बड़ा देता था। इसी से पूरा अर्थात् जीवन-ममूद पर लय का लहराता हुआ पाठ बन जाता है। ऋग्वेद का मनीषी गाता है—

‘गीतं वरुण सीमहि’ (हे मेरे वरुणिव ! मैं गीत से तुम्हें वाचना हूँ) इतना

ही नहीं, गीत गायक के प्रभु को भी प्रिय है—

सेम नः स्तोमया गह्यु पेद सवनं सुतम
गौरो न तृपित पिव ।

ऋ० १-१६-५

(प्यासा और मृग जैसे जलाशय से जल पीता है, वैसे ही तुम मेरे गीत में तन्मय होकर तृप्ति का अनुभव करो ।)

तत्त्व की सरल व्याख्या, प्रकृति की रूपात्मकता, सौंदर्य और शक्ति की सजीव साकारता, लौकिक जीवन के आकर्षक चित्र आदि इन गीतों को बहुत समृद्ध कर देते हैं । चिंतन के अधिक विकास ने गीन के स्थान में गद्य को प्रधानता दी, पर गीत का क्रम लोक-जीवन को घेरकर विविध रूपों में फैलता रहा ।

बौद्ध धर्म जीवन की विषमता में उत्पन्न है, अतः दुःख-निवृत्ति के अन्वेषकों के समान वह भाव के प्रति अधिक निर्मम रहा, पर उसकी विशाल करुणाशक्ति पृथ्वी पर जो गीत के फूल खिले, वे जीवन से मुरझित और दुःख के नीहारकणों से बोझिल हैं । वैयक्तिक विरागभरी धेरगाथाएँ और सौंदर्य की करुण कथाएँ कहने वाली धेरीगाथाएँ, अपनी भाषा और भाव के कारण वेद-गीत और काव्य-गीतों के बीच की कड़ी लगती हैं ।

विशेषतः निवृत्ति प्रधान गाथाओं से वैराग्य-गीतों को बहुत प्रेरणा मिल सकी । इन धीतराग भिक्षुओं का विहंग, वन, पर्वत आदि के प्रति प्रशाल अनुराग वेदकालीन प्रकृति-प्रेम का सहोदर है ।

सुनीला मुसिखा सुपेखुणा सचित्तपत्तच्छदना विहङ्गमा,
समञ्जुधोसत्य नित्ताभिगज्जिनो ते तं रमिस्सन्ति वनम्हि भायिन् ।

धेरगाथा, ११३६

(जब तुम वन में ध्यानस्थ बैठे होगे तब गहरी नोली ग्रीवावाले सुदूर शिखा-
गोभी तथा शोभन चित्रित पंजों से युक्त आकाशचारी विहंगम अपने सुमधुर
हलरव द्वारा, घोषभरे मेघ का अभिनदन करते हुए तुम्हें आनंद देंगे ।)

यदा बलाका मुचिपिण्डरच्छदा कालस्स मेघस्य भयेन तञ्जिता,
पलेहिति आलयमालयेसिनी तदा नदी आज्जकरणी रमेति मं ।

धेर० ३०७

[जब ऊपर (आकाश में) श्याम घनघटा से सभीत बगुलो की पांत अपने
ज्ज्वल श्वेत पक्ष फैलाकर आश्रय खोजनी हुई बसेरे की ओर उड़ चलती है, तब
(नीचे उनका प्रतिबिम्ब लेकर प्रवाहित) अज्जकरणी नदी मेरे हृदय में प्रसन्नता
पर देती है ।]

अंगारिनो दानि दुमा भदन्ते फलेसिनी छदनं विप्पहाय,
ते अच्चिमन्तो व पभामयन्ति समयो महावीर भगीरसानं ।

द्रुमानि फुल्लानि मनोरमानि समन्ततो सब्बदिसो पवन्ति,
पत्त पहाय फलमाससाना कालो इतो पक्कमनाय वीर ।

धेर० ५२७-२८

(नयी कोपलो से अगाराएण वृक्षो ने फल की साध से जीर्ण-शीर्ण पल्लव-परिधान त्याग दिया है । अब वे ली से युक्त जैसे उद्भासित हो रहे हैं । हे वीरक्षेप्ट ! हे तयागत ! यह समय नूतन आशा से स्पन्दित है ।

द्रुमाली फूलो के भार से लदी है, सब दिशाए सौरभ से उच्छ्वसित हो उठी हैं और फल को स्थान देने के लिए दल झड रहे हैं । हे वीर ! यह हमारी यात्रा का मंगल मुहूर्त है ।

भिक्षुणिया भी अपने नश्वर सौंदर्य का परिचय देने के लिए प्रकृति को माध्यम बनाती हैं ..

कालका भमरवण्णसदिसा वेल्लितग्गा मम मुद्धजा अहु,
ते जराय सालवाक सदिसा सच्चवादि वचन अनञ्जया ।
काननस्मि वनखण्डचरिणी कोकिला व मधुर निकूजित,
त जराय खलित तहि-तहि सच्चिवादि वचन अनञ्जया ।

धेरगाथा २५२-६१

[भ्रमरावली के समान सुचिक्कण काले और घुघरासे मेरे अलक गुच्छ जरा के कारण आज सन और वल्कल जैसे हो गए हैं । (परिवर्तन का चक्र इसी क्रम से चलता है) सत्यवादी का यह वचन मिथ्या नहीं ।

वनखड मे सचरण करती हुई कोकिला की कुहुक के समान मधुर मेरे स्वर का संगीत आज जरा के कारण टूट-टूटकर बेसुरा हो रहा है । (ध्वस का क्रम इसी प्रकार चलता है) सत्यवादी का यह कथन अन्यथा नहीं ।]

संस्कृत-काव्य मे श्रौच की व्यथा से कर्णार्द्र ऋषि गा नहीं उठा, जीवन के तार सभालने लगा और इस प्रकार कुछ समय तक रागिनी मूक रहकर तारो की झकार सुनती रही ; पर काव्य का राग जब मौन हो जाता है, तब लोक उम लय जो सभाल लेता है, इसी से गीत की स्थिति अनिश्चित नहीं हो सकती । संस्कृत नाटको और प्राकृत काव्यों म जो गीत हैं, वे तत्कालीन लोकगीत ही कहे जाएंगे । यह प्राकृत-गीत लोक की भाषा और मरल मधुर शब्दावली के द्वारा प्रकृति और जीवन के बड़े सुंदर चित्र अंकित कर मके हैं ।

भाव की मार्मिकता तथा अभिव्यक्ति की मरल शैली की दृष्टि से हिंदी गीतिकाव्य प्राकृत-गीतो का बहुत आभारी है—

एकत्ररुमपरिक्वणपहार समुहे कुरङ्गामिहुणम्भि ।

वाहेण मण्णुविअलन्तवाह धोअ धणु मुक्कम् ॥

गाथासप्तशती ७-१

(मृग-मृगी के जोड़े में से जब प्रत्येक दूसरे को बाण से बचाने के लिए लक्ष्य के सामने आने लगा, तब करणार्द्र व्याध ने आंसुओं से धुला धनुष रख दिया।)

धरपवणरअगलत्थिअ गिरि ऊडावडणभिण्णदेहस्स ।

धुवकाधुवकईजीअं व विज्जुआ कालमेहस्स ॥

गाथा० ६-८३

(जब प्रचंड पवन ने उसे गला पकड़कर पर्वतशिखर से नीचे फेंक दिया, तब छिन्न-भिन्न शरीर वाले काले मेष के भीतर विद्युत् प्राण के गमान धुकधुका उठी।)

उअ णिच्चलणिप्पन्दा भिसिणीपत्तम्मि रेहइ यत्ताआ ।

णिम्मल मरगअ भाअण परिट्ठिआ सय-सुत्ति व्व ॥

गाथा० १-५

[देखो, कमल के पत्र पर बलाका (यकी) कैंसी निश्चल नि.स्पंद बैठी है। वह तो निर्मंत मरकन के पात्र में रखी हुई शखशुक्ति जैमी लगती है।]

इस प्रकार के, कही करुण, कही सजीव और कही सुंदर चित्रों की सरल मामिकता ने हमारे लोक-गीतों पर ही नहीं, पद-साहित्य पर भी अपनी छाया डाली है।

हिंदी गीति-काव्य में भारतीय गीति-परंपरा की मूल प्रवृत्तियों का आ जाना स्वाभाविक था। तत्त्व-चिंतन और उससे उत्पन्न रहस्यानुभूति, प्रकृति और मनुष्य का सौंदर्य-दर्शन, स्वानुभूत सुख-दुःखों की चित्रमय अभिव्यक्ति आदि ने इन गीतों को विविधता भी दी है और व्यापकता भी।

कबीर के निर्गुण-गीतों ने ज्ञान को फिर गेयता देने का प्रयत्न किया है।

'मैं तं तं मैं ए हूँ नाहीं। आप अघट सकल घट माहीं।' जैसे पदों में वेदांत मुखरित हो उठा है और—

'गगन-मडल रवि समि दोई तारा। उलटी कूची सागि किवारा।' आदि चित्रों में साधनात्मक योग की रूप-रेखाएँ अंकित हैं।

रूपक-पद्धति के सहारे जीवन रहस्यों का उद्घाटन भी हमारे तत्त्व-चिंतन में बहुत विकसित रूप पा चुका था।

कबीर की

पाच सखी मिलि कीन्ह रमोई एक ते एक सयानी,

दूनो पार बराबर परमै जेवँ मुनि अरु जानी ॥

आदि पंक्तियों में व्यक्त रूपक-पद्धति का इतिहास कितना पुराना है, यह तब प्रकट होता है, जब हम उन्हें अथर्व के निम्न रूपक के साथ रखकर देखते हैं—

तन्त्रमेक युवती विरूपे अम्याकाम वयतः पद्मपूषम।

प्रान्या तन्तूस्तिरित धत्ते अन्या नापवञ्जाते न गमातो अतम् ॥

[दो गौर श्याम युवतिया (उपा-रात्रि) क्रम से बार-बार आ-जाकर छ लूटी वाले (ऋतुओ वाले) जाल को (विश्व रूप को) बुनती है। एक सूत्रो को (किरणो को) फैलाती है, दूसरी गाठती (अपने मे समेट लेती) है, वे कभी विश्राम नहीं करती, पर तो भी कार्य की समाप्ति तक नहीं पहुच पाती।]

निर्गुण-उपासक तत्त्व-द्रष्टा ही नहीं, तत्त्व-रूप का अनुरागी भी है, अत उसका मिलन-विरह समस्त विश्व का उल्लास-विपाद बन जाता है। प्रकृति वहा एक परम तत्त्व की अभिव्यक्ति है। अत उसके मौर्दर्य मे गौरभ जैसा स्पर्श है, जो प्रत्येक का होकर भी किसी एक का नहीं बन सकता और भाव मे आलोक जैसा रग है, जो किसी वस्तु पर पडकर उमसे भिन्न नहीं रहता।

निर्गुण-गायक अपने सुख-दुखो की अनुभूति को विस्तार देकर सामान्य बनाता है और सगुण गायक अपने सुख-दुखो को गहराई देकर उन्हे मबका बनाता है। एक ज्ञान के लिए हृदयवादी है, दूसरा भाव के लिए रूपवादी।

सगुण-गीतो का आधार मौर्दर्य और शक्ति की पूर्णतम अभिव्यक्ति होने के कारण प्रकृति और जीवन का केंद्र-बिंदु बन गया है, अत भावो की सबलता और रूपो की विविधता उगे घेरकर ही सफल हो सकती है। ससृष्ट काव्यो के समान ही, इन चित्र और भावगीतो म प्रकृति विविध-रूपी है। वही वह अपनी स्वतंत्र रूपरेखा मे यथार्थ है, वही हृदय के हर स्वर मे स्वर मिलाने वाली रहस्यमयी सगिनी है, वही मनुष्य के स्वानुभूत सुख-दुखो की मात्रा बनाने का साधन है और वही आराध्य के मौर्दर्य, शक्ति आदि को छाया है।

बरमत मेघवतं धरनी पर

घपला चमकि चमकि चकचौपति करति सबद आघात,

अन्धाधुन्ध पवनवतंघ घन वरत फिरत उत्पात ।

—सूर

उपर्युक्त गीत मे मेघ की चित्रमयता यथार्थ है, पर जब घटा देखकर विरह-व्यपित मोरा पुकार उठती है—

मतवारो बादल आयो रे,

मेरे पी को सदेमो नहि लायो रे ।

तब हमे बादल की वही सजीव पर रहस्यमयी साधारता मिलती है, जो मेघरून के मेघ मे यक्ष ने पाई थी। 'निमिदिन बरमत नयन हमारे' म वर्षा, रुदन की चित्रमय व्याख्या बाकर उपस्थित होती है और 'आजु घन श्याम की अनुहारि' जैगी पतिवो मे मेघ कृष्ण की छाया मे उद्भागिन हो कृष्ण जैगा बन गया है। स्वानुभूति प्रसात इन गीता न हृदयगत मर्म को चित्रमयता और वाह्य प्रकृति-

रूपों की व्यापकता दी है।

इनकी स्वरलहरी हमारे जीवन के विस्तार और गहराई में कितने स्थायी रूप में बस गई है, इसका परिचय काव्य-गीत और लोकगीत दोनों देते हैं।

भारतेंदु-युग हमारे साहित्य का ऐसा वर्षाकाल है, जिसमें सभी प्रवृत्तियाँ अकुरित हो उठी हैं, अतः गीत भी किसी मूली रागिनी के समान मिल जाते हैं तो आश्चर्य नहीं। ये गीत स्वतंत्र अस्तित्व न रखकर गद्य-रचनाओं के बीच में आये हैं, इसलिए विषय, भाव आदि की दृष्टि से इनका कुछ बधा हुआ होना स्वाभाविक है, पर इनमें कुछ प्रवृत्तियाँ ऐसी मिलेंगी जो अतीत और वर्तमान गीति-मुक्तकों को जोड़ने में समर्थ हैं। प्रकृति के सहज चित्र, यथार्थ की गाथा, राष्ट्रीय उद्बोधन और सामाजिक धार्मिक विहृतियों के प्रति व्यंग, भारतेंदु के गीतों को विविधता देते हैं।

भई आधि राति वन सनसनात,
पथ पछी कोउ आवन न जात,
जग प्रकृति भई जनु थिर लखात,
पातहु नहिं पावत तदन हलन।

उपर्युक्त पंक्तियों में रात की रेखाओं में निःस्तब्धता का रग है; पर जहाँ कवि ने प्रकृति के संबंध में परंपरा का अनुसरण मात्र करना चाहा, वहाँ वह सजीव स्पंदन खो गया—सा जान पड़ता है—

अहो कुञ्ज वन लता विरुध तृन पूछत तोमों,
तुम देखे कहूँ श्याम मनोहर कहहु न भोसो।

भाव-गीतों में सगुण-निर्गुण गीतों की शैली ही नहीं, कल्पना का भी प्रभाव है—

मरम की पीर न जानत कोय।

... ..

नैनन में पुतरी करि राखीं पणकन ओटि दुराय,
हियरे में मनहूँ के अतर कैसे लेउँ लुकाय।

तत्कालीन जीवन और समाज की विषमता की अनुभूति और प्राचीन समृद्धि के ज्ञान ने व्यगमय यथार्थ-चित्रों और विपादभरे राष्ट्र-गीतों की प्रेरणा दी है—

घन गरजै जल बरसै इन पर विपत्ति परै किन आई,
ये बजमारे तनिक न शौकत ऐसी जडता छाई।

... ..

भारत जननी जिय कयो उदाम,
बैठी इकली कोउ नाहिं पास।

किन देखहु यह उह ऋतुपति प्रकाश,
फूली सरसो वन करि उजास ।

पृथ्वी की मातृरूप में कल्पना हमारे बहुत पुराने सस्कार से सबध रखती है। अथर्व का पृथ्वीर्गात चित्रमय और यथार्थ होने के साथ-साथ मातृवदना भी है—

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोरण्य ते पृथिविस्व्योनमस्तु ।

... ..

पवस्य माता मूमिः पुत्रो अह पृथिव्या ।

(ये तेरे पर्वत और तुपार से आरुछादित सुग शिखर, ये तेरे वन हमारे लिए सुखकर हो। हे मातृ-मू ! तू मुझे पवित्र कर, मैं पृथिवी का पुत्र हूँ।)

खड़ी बोली के आरंभ में जीवन, प्रकृति, नीति, राष्ट्र आदि पर आश्रित मुक्तक लिखे गये, परंतु उनमें गेयता के लिए स्थान कम था। वास्तव में गीत सरल मधुर, परिचित और प्रयोग से मजी हुई शब्दावली से आकार और भावतीव्रता से आत्मा चाहता है और किसी भाषा के आदिभूग में गीत सरल और प्राण को सामंजस्यपूर्ण स्थिति में मिलने के कारण उसका विकास कठिन हो जाता है। गीत अपनी धरती और आकाश से इस प्रकार बंधा है कि कुशल से कुशल गायक भी विदेशी भाषा में गा नहीं पाता।

खड़ी बोली के गीत हमें प्रबंध-काव्यों में तब प्राप्त हुए, जब उससे हमारा हृदय परिचित हो चुका था, भाषा मज चुकी थी और भाव शब्द पर तुल चुका था। शुद्ध संस्कृत शब्दावली उसके वर्णवृत्त अनाने वाले कवियों पर संस्कृत-काव्यों का प्रभाव होना अनिवार्य ही था। रीतियुग के चमत्कार से सहानुभूति न रखने के कारण इन कवियों ने संस्कृत काव्यों की वह सौली अपनायी जिममें प्रकृति भी रेखाए स्पष्ट, सरल और जीवन के रंग जाने-पहचाने से लगते हैं। 'साचेत' में चित्रकूट की बनवामिनी सीता—

विमलय-कर स्वागत हेतु हिला करते हैं ।

... ..

तृण तृण पर मुक्ता-भार झिन्ना करते हैं ।

गाकर प्रकृति का जो शब्द-चित्र उपस्थित करती है, उसकी रेखा-रेखा हमारी जानी-बूझी है। इस प्रकार विरहिणी उमिला—

न जा अधीर धूल में,

दृग्म्यु आ दुबून में ?

... ..

तुम्हारे हँसने में है पून हमारे रोने में मोती !

आदि में अपनी ध्यया की जो ध्वनिमय साकारता देनी है, उससे भी हमारा

पुरातन परिचय है। यशोधरा के मर्म-गीत ही नहीं, कवि के रहस्य-गीत भी सरल शब्दावली और परिचित भावों के कारण इतने ही निकट जान पड़ते हैं। इनमें तीव्र भावावेग नहीं, जीवन का स्वाभाविक उच्छ्वास है, कभी-कभी अतिपरिचय से साधारण बन जाता है।

छायावाद व्यथा का सबेरा है, अतः उसके प्रभाती गीतों की सुनहली आभा पर आंसुओं की नमी है। स्वानुभूति को प्रधानता देने वाले इन सुख-दुःख-भरे गीतों के पीछे भी इतिहास है। जीवन व्यस्त तो बहुत था, पर उनके कर्मांडंबर में सृजन का कोई क्रम न मिलता था। समाज-संस्कृति संबंधी आदर्शों और विश्वासों को एक पग में नापने के लिए, जिज्ञासा धामन से विराट् हुई जा रही थी। बहुत दिनों से शरीर का भासन महत्ते-सहते हृदय विद्रोही हो उठा था। नवीन गम्यता हमें प्रकृति से इतनी दूर ले आई-थी कि पुराना रूप-दर्शन-जनित सस्कार खोई वस्तु की स्मृति के समान बार-बार कसक उठता था। राष्ट्रीयता की चर्चा और समय की आवश्यकता ने हमें पिछला इतिहास देखने के लिए अवसर दे दिया था। भारतेंदु-युग की विपादमयी ध्वनि—

‘अब तजहु वीरवर भारत की सब आमा’ ने असह्य प्रतिध्वनियां जगाकर हमें अंतिम बार अपने जीवन की मूढम और व्यापक शक्ति की परीक्षा करने के लिए विवश कर दिया था।

आनंद से मनुष्य जब चंचल होता है तब भी गाता है, और व्यथा से जब हृदय भारी हो जाता है, तब भी गाता है, क्योंकि एक उसके हृर्ष को बाहर फैलाकर जीवन को सतुलन देता है और दूसरा उसकी निस्तब्धता में संवेदन की लहर पर लहर उठाकर जीवन को गतिरुद्ध होने से बचाता है।

गत महायुद्ध की तमसा के विपाद-भरे प्रभात में संधिर से गीली धरती और क्रूरता से सूखा निरभ्र आकाश देखकर कवि के हृदय में प्रश्न उठना स्वाभाविक हो गया—जीवन क्या विषम खंडों का समूह मात्र है, जिसमें एक खंड दूसरे के विरोध में ही स्थिति रखेगा? हृदय क्या मांसल यंत्र मात्र है, जिसमें परस्पर पीडा पहुंचाने के साधनों का आविष्कार होता रहेगा? प्रकृति क्या लौहागार मात्र है, जिसमें एक-दूसरे को धात-विक्षत करने के लिए अमोघ अस्त्र-शास्त्र ही गढ़े जाएंगे?

भारतीय कवि को उनके सब प्रश्नों का उत्तर जीवन की उसी अखंडता में मिला, जिसकी छाया में लघु-गुरु, कोमल-कठोर, कुसून-मुदर सब सापेक्ष बन जाते हैं।

जीवन को जीवन से मिलाने के लिए तथा जीवन को प्रकृति से एक करने के लिए उनमें वही सर्वात्मक हृदयवाद स्वीकार किया, जो मनकी मुक्ति में उसे मुक्त कर सकता था। जीवन की विविधरूप एकता के संबन्ध में छायायुग के प्रति-

निधि गायको के स्वर भिन्न पर राग एक है—

अपने सुख-दुख से पुलकित,
यह भूतं विश्व सचराचर,
चिति का विराट वपु मगल,
यह सत्य सतत चिर सुन्दर !

—प्रसाद

जिस स्वर से भरे नवल नीरद

हूए प्राण पावन गा हुआ हृदय भी गद्गद
जिस स्वर वर्षा ने भर दिए सरित-सर-सागर
मेरी यह घरा हुई घन्य भरा नीलाम्बर !
वह स्वर शर्मद उनके कठो मे गा दो !

—निराला

एक ही तो असीम उल्लास

विश्व में पाता विविधाभास,
तरल जलनिधि मे हरित-विलास
शान्त अम्बर मे नील विकास,

—पत

जीवन मे सामजस्य को खोजने वाले कवि ने बाह्य विभिन्नता से अधिक अतरतम की एकता को बहुत महत्त्व दिया और आधुनिक युग मे मनुष्य-निर्मित आश्चर्यों के स्थान मे प्रकृति की रहस्यमय स्वाभाविकता को स्वीकार किया। तत्त्वगत एकता और सौंदर्यगत विविधता ने एक ओर रहस्यगीतों के निराकार को अनंत रूप दिये और दूसरी ओर प्रकृति-गीतों के सौंदर्य को भाव के निरंतर प्रवासोच्छ्वास मे विस्तार दिया।

सगीत के पखो पर चलनेवाले हृदयवाद की छाया मे गीत विविधरूपी हो उठे। स्वानुभूत सुख-दुखो के भाव-गीत, लौकिक मिलन-विरह, आशा-निराशा पर आश्रित जीवन-गीत, सौंदर्य की सजीवता देने वाले चित्रगीत, सबकी उपस्थिति सहज हो गई।

पर इस भागवत सर्ववाद मे इतिवृत्तात्मक पर्याय की स्थिति कुछ बठिन हो जाती है। छायावाद की रूप-ममष्टि मे प्रकृति और जीवन की रस्ताए उसफकर भ्रूष्य तथा रग भूल-निमित्तकर रहस्यमय हो उठते हैं। इमने विपरीत इतिवृत्त को बठिन रस्ताओं और निदिष्टन रगो की आवश्यकता रहनी है, क्योंकि वह केवल उमी वस्तु को देखता है, जिमका उसे चित्र देना है—आसपास की रूपममष्टि के प्रति उसे कोई आकर्षण नहीं।

इमके अतिरिक्त गीत स्वय एव भावावेश है और भावावेश मे वस्तुए कुछ अतिशयोक्ति के साथ देली जाती है। गाय ही गायक अपने सुख-दुखो को अपिच

से अधिक व्यापकता देने की इच्छा रखता है, अन्यथा गाने की आवश्यकता ही न रहे ।

इस प्रकार प्रत्येक गीत-भाव की गहराई और अनुभूति की सामान्यता से बंधा रहेगा । मिट्टी से ऊपर तक भरे पात्र में जैसे रजकण ही अपने भीतर पानी के लिए एक जगह बना देते हैं, वैसे ही यथार्थ के लिए भाव में ऐसी स्वाभाविक स्थिति चाहिए, जो भाव ही से मिल सके । इससे अधिक इतिवृत्त गीत में नहीं समा पाता ।

छायावाद के गीतों का यथार्थ कभी भाव की छाया में चकता है और कभी दर्शनात्मक आत्मबोध की ।

भाव की छाया मनुष्य और प्रकृति दोनों की यथार्थ रेखाओं को एक रहस्यमयता दे देती है—

लख ये काले काले बादल,
नील सिन्धु में खुले कमल दल !
—निराला

मे भेष रूप की जिस अनंत समष्टि के साथ है—

गहरे घुंघले धुले साँवले
मेघों से मेरे भरे नयन,
—पन्त

मे मनुष्य भी उसी समष्टि में स्थिति रखता है ।

जीवन का तत्त्वगत भावन, बाह्य अनेकता पार कर अंतर की एकता पर आश्रित रहेगा, अतः—

चेतन समुद्र में जीवन
लहरों सा बिल्वर पडा है ।
—प्रसाद

मृण्मय दीपो में दीपित हम
शाश्वत प्रकाश की शिखा भुषम ।
—पन्त

जैसी अनुभूतियों में यथार्थ की रेखाएँ धूल-मिल जाती हैं ।

इतना ही नहीं—

पीठ पेट दोनों मिलकर हैं एक
चल रहा लकुटिया टेक ।

जैसी पंक्तियों में भिन्नारी की जो यथार्थ रेखाएँ हैं, उनका कठोर बंधन भी आत्मबोध की अंतःफल्गु को बाहर फूट निकलने से नहीं रोक पाता, इसी से ऐसे यथार्थ चित्र के अंत में कवि कह उठता है—

ठहरो अहो मेरे हृदय मे है अमृत में सींच दूँगा ।

—निराला

राष्ट्रगीतो मे भी एक प्रकार की रहस्यमयता का आ जाना स्वाभाविक हो गया । भारतेंदु-युग ने इस देश को सामाजिक और राजनीतिक विकृतियों के बीच मे देखा, अतः 'सब भाति दैव प्रतिकूल होइ एहि नासा' कहना स्वाभाविक हो गया । खड़ी बोली के बैतालिको ने उसे प्राकृतिक समृद्धि के बीच मे प्रतिष्ठित कर 'सूर्यचंद्र युग मुकुट मेखला रत्नाकर है' कहकर मूर्त्तिमत्ता दी । छायावाद ने इन सौंदर्य मे सूक्ष्म स्पदन की अनुभूति प्राप्त की—

अरुण यह मधुमय देश हमारा ।

बरसाती आँखो के बादल बनते जहाँ भरे करुणा-जल,

लहरें टकराती अनन्त की, पाकर कूल किनारा ।

—प्रसाद

भारतेंदु-युग के—'चलहु वीर उठि तुरत सब जयध्वजहि उडाओ' आदि अभियान-गीतो मे राष्ट्रीय जय-पराजय-गान के जो अकुर है, वे उत्तरोत्तर विवसित होते गए—

हिमाद्रि तुग शृंग से,

प्रबुद्ध शुद्ध भारती,

स्वयंप्रभा समुज्ज्वला,

स्वतंत्रता पुकारती ।

—प्रसाद

आदि अभियान-गीत सस्कृत के वर्णवृत्तो से रूप और अपने युग की रहस्यमयता से स्पदन पाते हैं । राष्ट्रगीतो मे वही निर्धूम करुण दीप्ति है, जो मोम-दीपो मे मिलेगी ।

पुरातन गौरव की ओर प्राय सभी कवियों का ध्यान आकर्षित हुआ; क्योंकि बिना पिछले सांस्कृतिक मूल्यों के ज्ञान के मनुष्य नये मूल्य निश्चित करने मे असमर्थ रहता है—

जगे हम लगे जगाने विश्व

लोक मे फैला फिर आलोक,

व्योम-नम-पुञ्ज हुआ तब नाश

अखिल ससृति हो उठी अशोक ।

—प्रसाद

भूतियो का दिगन्त छवि-जाल

उपोति चुम्बित जगती का भाल ?

—पन्त

मन के गगन के
अभिलाष-घन उस समय
जानते थे वर्षण ही
उद्गीरण वज्र नहीं ।

—निराला

इस प्रवृत्ति ने इन कवियों को एक ऐसी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि दी, जिस पर उनके निराशा के गीत भी आशा से आलोकोज्ज्वल हो उठे और व्यक्तिगत सुख-दुःख भी विशाल होकर उपस्थित हो सके ।

काव्य-गीतो के साथ-साथ समानांतर पर चलनेवाली लोक-गीतों की परंपरा भी उपेक्षा के योग्य नहीं, क्योंकि वह साहित्य की मूल-प्रवृत्तियों को सुरक्षित रखती आ रही है । प्रायः जब प्रबंधों के शब्दनाद में गीत का मधुर स्वर भूक हो जाता है, तब उसकी प्रतिध्वनि लोक-हृदय के तारों में गूँजती रहती है । इसी प्रकार गीत की रागिनी जब काव्य को कथा-साहित्य की ओर से वीतराग बना देती है, तब वे कथाएँ सरल आख्यान और किवंदंतियों के रूप में लोक-काव्यों में कही-सुनी जाती हैं । जब आधुनिक जीवन की कृत्रिम चकाचौंध में प्रकृति पर दृष्टि रखना कठिन हो जाता है, तब लोक और ग्राम में वह जीवन के पार्श्व में खड़ी रहती है । जब बदली परिस्थितियों में रणकंकण खुल चुकते हैं, केसरिया बाने उतर चुकते हैं, तब लोक-गीत धीरे रस को पुनर्जन्म देते रहते हैं ।

इस प्रकार न जाने कितनी काव्य-समृद्धि हमें लोक-गीत लौटाते रहे हैं । इन गीतों के गायक जीवन के अधिक समीप और प्रकृति की विस्तृत स्पंदित छाया में विकास पाते हैं, अतः उनके गीतों में भारतीय काव्य-गीतो की मूल प्रवृत्तियों का अभाव नहीं है । इन गीतों के सबंध में हमारी धारणा बन गई है कि वे केवल इतिवृत्तात्मक जीवन-चित्र हैं, परंतु उनका थोड़ा परिचय भी इसे भ्रात प्रमाणित कर सकेगा ।

जैसे गीत के पद्य होने पर भी प्रत्येक तुकबंदी गीत नहीं कही जाएगी, इसी प्रकार लोक-जीवन के सब ब्योरे गेयता नहीं पा सकते । इसका सबसे अतर्क्य प्रमाण हमें ग्राम्य जीवन में मिलेगा, जहाँ लोक का सारा ज्ञान-कोष कष्ट ही में रहता है । पशु संबंधी ज्ञान, खेती संबंधी विज्ञान, जीवन की अन्य स्थूल-सूक्ष्म समस्याओं के समाधान, सब पद्य की रूपरेखा में बघकर पीढ़ियों तक चलते रहते हैं । पर गेयता का महत्त्व इन तुकबंदियों में नहीं खो जाता । गीतों में उतना ही यथार्थ लिया जाता है, जितना भाव को भारी न बना दे । लोकगीतों में टुक की तरह आने वाला यथार्थ सूक्ष्म वायुमंडल को घेरने वाली दिशाओं के समान स्वर-लहरी को फैलाने के लिए अपनी स्थिति रखता है, उसे रुंध डालने के लिए

नहीं ।

हमारा यह बिना लिखा गीत-काव्य भी विविधरूपी है और जीवन के अधिक समीप होने के कारण उन सभी प्रवृत्तियों के मूल रूपों का परिचय देने में समर्थ है, जो हमारे काव्य में सूक्ष्म और विकसित होती रह सकी ।

प्रकृति को चेतना व्यक्तित्व देने की प्रवृत्ति लोक-जीवन में अधिक स्वाभाविक रहती है, इसी से सूर्य-चन्द्र से लेकर वृक्ष-लता तक सब एक ओर सजीव, स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं और दूसरी ओर जीवन के साथ सापेक्ष स्थिति में रहते हैं ।

ग्राम की विरहिणी बाला अपने उमी रात लौटने वाले पति के स्वागत का प्रबंध चंद्रमा को सौंपने में कुठित नहीं होती—

आजु उआँ मोरे चदा जुन्हइया आंगन लीपै,
झिलमिल होहि तरइयाँ तो मोतियन चौक घरे ।

(हे मेरे चंद्र, तुम आज उदय हो ! तुम्हारी चादनी मेरे आगन को लीप-कर उज्ज्वल कर दे और ये झिलमिलाती तारिकाएँ मोतियों का चौक बन जावें ।)

प्रकृति के जीवन के साथ उनके जीवन का ऐसा संबंध है कि वे अपने सुख-दुःख, मयोग-वियोग सब में उसी के साथ हसना-रोना, मिलना-बिछुडना चाहते हैं—सभी तो पिता के घर से पतिगृह जाती हुई व्यथित बालिका वध कहती है—

मोरी डोलिया मजी है दुआर बाबुल तोरी पाहुनियाँ ।
फूलें जब अँगना की नीम फरें जब नारगिया,
सुघ कर लीजी एक बार कूकें जब कोइलिया ।
बौरें जब वगिया का अमवा भूलन डारें सब सखियाँ,
पठइयो बिरन हमार घिरें जब बादरियाँ ।

(हे पिता ! द्वार पर मेरी डोली आ गई है । अब मैं तुम्हारी अतिथि हूँ । पर जब आगन का नीम फूलों से भर जाए, नारंगी जब फलों से लद जाए और जब कोयल कूक उठे, तब एक बार तुम मेरी सुधि कर लेना ।

जब बाग का रसाल बीरने लगे, उमकी डाल पर सखियाँ झूला डालें और पावस की काली बदली घिर आवे, तब तुम मेरे मैया को मुझे लेने के लिए भेज देना ।)

इस चित्र के पार्श्व में हमारी स्मृति उस करुण मधुर शकुंतला का चित्र आक देती है, जो पिता से लता के फूलने और मृगशावन के उत्पन्न होने का समाचार भेजने के लिए अनुरोध करती है तथा जिसके लिए कण्व वृक्ष-लताओं से कहते हैं—

समाज और व्यक्ति

समाज ऐसे व्यक्तियों का समूह है, जिन्होंने व्यक्तिगत स्वार्थों की सार्वजनिक रक्षा के लिए, अपने विषम आचरणों में साम्य उत्पन्न करने वाले कुछ सामान्य नियमों से शासित होने का समझौता कर लिया है।

मनुष्य को समूह बनाकर रहने की प्रेरणा पशु-जगत् के समान प्रकृति से मिली है, इसमें संदेह नहीं; परंतु उसका क्रमिक विकास विवेक पर आश्रित है, अन्ध प्रवृत्तिमात्र पर नहीं। मानसिक विकास के साथ-साथ उसमें जिस नैतिकता की उत्पत्ति और वृद्धि हुई उसने उसे पशु-जगत् में सर्वथा भिन्न कर दिया। इसी से मनुष्य-समाज समूह-मात्र नहीं रह सका, वरन् धीरे-धीरे एक ऐसी संस्था में परिवर्तित हो गया, जिसका ध्येय भिन्न-भिन्न सदस्यों को लौकिक सुविधाएँ देकर उन्हें मानसिक विकास के पथ पर आगे बढ़ाते रहना है।

आदिम युग का मनुष्य, समूह में रहते हुए भी पारस्परिक स्वार्थ की विवेचना और उसकी समस्याओं से अपरिचित रहा होगा। अनुमानतः सामाजिक भावना का जन्म परस्पर हानि पहुँचाने वाले आचरण से तथा उसका विकास नवीन स्थानों में उत्पन्न संगठन की आवश्यकता से हुआ है। किसी भी प्राणि-समूह को अपने जन्मस्थान में उतने अधिक संगठन की आवश्यकता नहीं होती जितनी किसी नये स्थान में होती है, जहाँ उसे अपने-आपको नवीन परिस्थितियों के अनुरूप बनाना पड़ता है। यदि उसकी सहजवृद्धि इस एकता की अनिवार्यता का बोध न कराती तो इस समूह-विशेष का जीवन ही कठिन हो जाता। मनुष्य जाति जब जीवन के लिए अधिक सुविधाएँ प्रदान करने वाले प्रदेशों में फैलने लगी तब उसके भिन्न-भिन्न समूहों को अपनी शक्तियों का दृढतर संगठन करने की आवश्यकता ज्ञात हुई, अन्यथा वे नयी परिस्थितियों और नये शत्रुओं से अपनी रक्षा करने में समर्थ न हो पाते। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में बिपरीत हुई उच्छृंखल शक्ति जाति के लिए दुर्बलता बन जाती है यह पाठ मनुष्य समूह ने अपने जीवन के आरंभ में ही सीख लिया था; इसी से वह उसे एकता के सूत्र

मे बाधकर अपने-आपको सबल बना सका। अनेक व्यक्ति एक ही स्थान में एक-दूसरे के निकट बसने लगे, परस्पर सहानुभूति और सद्भाव उत्पन्न करने के लिए एक-दूसरे की खाद्य और आच्छादन छीन लेने की प्रवृत्ति को रोकने लगे और विजाति से युद्ध के समय शक्ति को संगठित रखने के लिए अपने समूह विशेष के किसी अग्रगण्य वीर का शासन मानना सीखने लगे। विशेष सुविधाओं के लिए एकत्र यह मनुष्य समूह ही हमारे विकसित तथा अनेक नैतिक और धार्मिक बंधनों में बंधे सम्यक् समाज का पूर्वज कहा जा सकता है। आज भी अमम्य जातियों के संगठन के मूल में यही आदिम युग की भावना मन्निहित है।

स्थान विशेष की जलवायु तथा वातावरण के अनुरूप एक जाति रंग-रूप और स्वभाव में दूसरी से भिन्न रही है और प्रत्येक में अपनी विशेषताओं की रक्षा के लिए स्वभावगत प्रेरणा की प्रचुर मात्रा रहती है। आत्मरक्षा के अतिरिक्त उन्हें अपनी जातिगत विशेषताओं की चिन्ता भी थी, अतः उनमें व्यवहार के लिए ऐसे विशेष नियम भी बनने लगे, जिनका पालन व्यक्ति की आत्मरक्षा के लिए न होकर जाति की विशेषताओं की रक्षा के लिए अनिवार्य था। आत्मरक्षा की भावना के साथ-साथ मनुष्य में जाति की विशेषताओं की रक्षा की भावना भी बढ़ती गई जिससे उसके जीवन-सबधी नियम विस्तृत और जटिल होने लगे। समूह द्वारा निश्चित नियम सबधी समझौते के विरुद्ध आचरण करने वाले को दंड मिलने का विधान था, परंतु इस विधान द्वारा छिपाकर विह्वल-करण करने वालों को नहीं रोका जा सकता था। अतएव कालांतर में उन नियमों के साथ पारलौकिक सुख-दुखों की भावना भी बंध गई। मनुष्य को स्वभाव से ही अज्ञात का भय था, इसी से उसके निर्माण के सब कार्यों में एक अज्ञात कर्ता का निर्माण प्रमुख रहा है। इस अज्ञात का दंड और पुरस्कार मनुष्य के आचरण को इतना अधिक प्रभावित करता आ रहा है कि अब उसे महत्त्व में समाज के वास्तविक दंड और पुरस्कार के साथ एक ही तुला पर तोला जा सकता है। आरंभ में यदि समाज के रोप या प्रसाद से उत्पन्न लौकिक हानि और लाभ आचरण के ढालने के कठोर साधे थे, तो पारलौकिक सुख-दुखों की भावना उस मानसिक संस्कार का दृढ़ आधार थी, जिससे आचरण को रूप मिलता है। इस प्रकार लौकिक सुविधा की नींव पर, नैतिक उपकरणों से, धार्मिकता का रंग देकर हमारी सामाजिकता का प्रभाद निर्मित हो सका। जिस क्रम से मनुष्य सम्यक्ता के मार्ग पर अग्रसर होता गया, उसी क्रम से समाज के नियम अधिकाधिक परिष्कृत होते गये और पूर्ण विकसित तथा व्यवस्थित समाज में वे केवल व्यावहारिक सुविधा के साधन मात्र न रहकर मदद्यों के नैतिक तथा धार्मिक विकास के साधन भी हो गये।

व्यक्ति तथा समाज का संबन्ध सापेक्ष कहा जा सकता है, क्योंकि एक के

अभाव में दूसरे की परिस्थिति संभव नहीं। व्यक्ति के स्वत्वों की रक्षा के लिए समाज बना है और समाज के अस्तित्व के लिए व्यक्ति की आवश्यकता रहती है। एक सामाजिक प्राणी स्वतंत्र और परतंत्र दोनों ही है। जहां तक वैयक्तिक हितों की रक्षा के लिए निमित्त नियमों का संबंध है, व्यक्ति परतंत्र ही कहा जाएगा; क्योंकि वह ऐसा कोई कार्य करने के लिए स्वच्छंद नहीं जिससे अन्य सदस्यों को हानि पहुंचे। परंतु अपने और समाज के व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक विकास के क्षेत्र में व्यक्ति पूर्णतः स्वतंत्र रहता है।

अवश्य ही इस विकास की व्याख्या प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वार्थ की दृष्टि में नहीं कर सकता, अन्यथा इसकी परिभाषा समाज के सदस्यों की सख्या से न्यून नहीं हो सकती। मनुष्य-जाति का, बर्बरता की स्थिति से निकलकर मानवीय गुणों तथा कला-कौशल की वृद्धि करते हुए सम्य और सुसंस्कृत होते जाना ही उसका विकास है। इस विकास की ओर अग्रसर होकर व्यक्ति समाज को भी अग्रसर करता है। व्यक्ति जब वैयक्तिक हानि-लाभ को केंद्रबिंदु बनाकर अपनी सार्वजनिक उपयोगिता भूलने लगता है, तब समाज की व्यवस्था और उसके सामूहिक विकास में बाधा पड़ने लगती है, भिन्न-भिन्न स्वभाव और स्वार्थ वाले व्यक्तियों के आचरणों में कुछ विषमता अवश्य ही रहती है; परंतु जब इस विषमता की मात्रा सामंजस्य की मात्रा के समान या उससे अधिक हो जाती है, तब समाज की सामूहिक प्रगति दुर्गति में परिवर्तित होने लगती है। इस विषमता का चरम सीमा पर पहुंच जाना ही क्रांति को जन्म देता है, जिससे समाज की व्यवस्था को नयी रूप-रेखा मिलती है।

व्यक्ति समाज से पृथक् रह सकता है या नहीं, यह प्रश्न कई दृष्टिकोणों में देखा जा सकता है। यदि समाज का अर्थ संप्रदाय-विशेष समझा जावे, तो मनुष्य उससे स्वतंत्र रह सकता है, क्योंकि ऐसी स्वतंत्रता मनुष्य के मानसिक जगत् के अधिक समीप है। एक व्यक्ति अपनी विचार-धारा में जितना स्वतंत्र हो सकता है, उतना व्यवहार में नहीं हो सकता। मानसिक जगत् का एकाकीपन व्यावहारिक जगत् में संभव नहीं, इसी से प्राचीन काल में भी भिन्न-भिन्न मत और दर्शनों वाले व्यक्तियों के पृथक्-पृथक् समाज नहीं बनाये गये। केवल आत्मापेक्षी जगत् में मनुष्य समाज से स्वतंत्र होकर रह सकता है। परंतु यदि समाज की परिभाषा ऐसा मनुष्य-समूह हो, जो पारस्परिक सहयोगापेक्षी है, तो उस समाज से व्यक्ति का नितांत स्वतंत्र होना किसी युग में भी संभव नहीं हो सकता है। सम्य और असम्य दोनों ही स्थितियों में मनुष्य दूसरे मनुष्यों के सहयोग से अपना जीवन-मार्ग प्रशस्त कर सकता है। उसके लिए अन्न, वस्त्र जैसी साधारण परंतु आवश्यक वस्तुएं भी अनेक व्यक्तियों के प्रयत्न का फल हैं; यह स्वतः प्रमाणित है। उसकी भावना को जीवित रखने वाली कलाएं, उसके

बौद्धिक विकास को प्रशस्त बनाने वाला साहित्य और व्यवहार-जगत् में उसके जीवन को सुख और सुविधाएँ देने वाले भवन, ग्राम, नगर तथा अन्य अनिवार्य वस्तुएँ सबकी उत्पत्ति मनुष्यों के सहयोग से हुई है, इसे कोई अस्वीकार न कर सकेगा। युगों से व्यक्ति को सुखी रखने और उसके जीवन को अधिक पूर्ण तथा सुगम बनाने के लिए मानव-जाति प्रकृति से निरंतर युद्ध करती आ रही है। उसने अपनी सगठित शक्ति से पर्वतों के हृदय को वेध डाला, प्रपातों की गति बाधी, समुद्रों को पार किया और आकाश में मार्ग बनाया। मनुष्य यदि मनुष्य को महयोग देना स्वीकार न करता तो न मानवता की ऐसी अद्भुत कहानी लिखी जाती और न मनुष्य अपनी आदिम व्यवस्था से आगे बढ़ सकता। मनुष्य जाति सगठन में ही जीवित रहेगी, जब तक यह सत्य है तब तक समाज की स्थिति भी सुदृढ़ रहेगी। सारे मनुष्य एक ही स्थान में नहीं रह सकते अतः उनके समूहों के विकासोन्मुख सगठन पर सारी जाति की उन्नति का निर्भर होना स्वाभाविक ही है। इसके अतिरिक्त मनुष्य प्रकृति से ही सामाजिक प्राणी है, अपने स्वभाव में आमूल परिवर्तन किए बिना उसका समाज से पृथक् होना न संभव है और न वाञ्छनीय।

फिर भी यह कहना कि समाज व्यक्ति के संपूर्ण जीवन में व्याप्त है, सत्य की उपेक्षा करना होगा। साधारणतः माननीय स्वभाव का अधिकांश समाज के शासन में नहीं रहता, क्योंकि वह बंधन से परे है। मनुष्य के जीवन का जितना अंश धर्म, शिक्षा आदि की भिन्न भिन्न सामाजिक संस्थाओं के सन्तर्भ्रम आता है, उतना ही समाज द्वारा शासित समझा जाता है और उतने ही से हम उसके विषय में अपनी धारणा बनाते रहते हैं। समाज यदि मनुष्यों का समूह मात्र नहीं है तो मनुष्य भी केवल क्रियाओं का समूह नहीं। दोनों के पीछे सामूहिक और व्यक्तिगत इच्छा, हर्ष और दुःखों की प्रेरणा है। जीवन केवल इच्छाओं या भावनाओं में उत्पन्न आचरणों की सेना के समान क्वायद सिखा देने में ही व्यर्थ नहीं हो जाता, वरन् उन इच्छाओं के उद्गमों की खोजकर उनसे मनुष्यता की मरुस्थली को आर्द्र करके पूर्णता को प्राप्त होता है।

इस दृष्टि से समाज की मत्ता दो रूपों में विभक्त हो जाती है। एक के द्वारा वह अपने मदस्यों के व्यवहार और आचरणों पर शासन करता है और दूसरे के द्वारा वह उनकी स्वाभाविक प्रेरणाओं का मूल्य आकर उनसे मानविक विषयों के उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत करता रहता है। किसी भी व्यक्ति को अपने लिए विशेष वातावरण बुझने नहीं जाना पड़ना, क्योंकि वह एक गृह विशेष में जन्म लेकर अपनी वृद्धि के साथ-साथ अन्य सामाजिक संस्थाओं के संपर्क में आता रहता है। जैसे उसे माँ सेने के लिए वायु की खोज नहीं करनी पड़ती, उसी प्रकार वातावरण विशेष से भी वह अनभिन्न रहता है। उसकी व्यावहारिक-

कता और आध्यात्मिकता दोनों उसके अनजानपन में एक विशेष रूप-रेखा में बंधने लगती हैं और जब वह सजग होकर अपने-आपको देखता है तब वह बहुत कुछ बन चुका होता है। परंतु यदि व्यक्ति अपने इस रूप से संतुष्ट हो सके तो उसे निर्जीव मूर्तिपट ही कहेंगे, जो किसी साचे में ढल सकता है, परंतु ढाल नहीं सकता। वास्तव में समाज के दान की जहां इति है, व्यक्ति का वहीं से अथ होता है। वह दर्जों के सिले कपड़ों के समान पहले समाज के वैध सिद्धांतों को धारण कर लेता है और तब उनके तग या ढीले होने पर, सुंदर या कुरूप होने पर अपना मतामन देता है। इसी मतामन से समय-समय पर समाज को अपने पुराने सिद्धांतों को नया रूप देना पड़ता है प्रगतिशील समाज में व्यक्तियों का समूह अन्योन्याश्रित ही रहेंगे और उनका दान-प्रतिदान उपयोगिता की एक ही तुला पर, विकास के एक ही बाट से तोला जा सकेगा।

समाज की दो आधार-शिलाएँ हैं, अर्थ का विभाजन और स्त्री-पुरुष का संबंध। इनमें यदि एक की भी स्थिति में विपमता उत्पन्न होने लगती है, तो समाज का सम्पूर्ण प्रासाद हिले बिना नहीं रह सकता।

अर्थ सामाजिक व्यक्ति की अनिवार्य आवश्यकता है, क्योंकि उसके द्वारा जीवन के लिए आवश्यक सामग्री प्राप्त हो सकती है। बर्बरता तथा सभ्यता दोनों ही परिस्थितियों में मनुष्य अपने सुख के साधन चाहता है, अंतर केवल यही है कि एक स्थिति में अपने सुख के साधन प्राप्त करना व्यक्ति की शक्ति पर निर्भर है और दूसरी में सुख की सामग्री के समान विभाजन का अधिकार समाज को सौंप दिया जाता है। बर्बरता की स्थिति में शक्ति का उपयोग व्यक्तिगत हितों की रक्षा में निहित था, परंतु सम्य समाज में शक्ति का उपयोग सार्वजनिक है। समाज अपने सदस्यों में प्रत्येक को, चाहे वह सबल हो चाहे निर्बल, सुख के साधन समान रूप से वितरित करने पर बाध्य समझा जाता है।

सब व्यक्तियों का शारीरिक तथा मानसिक विकास एक-सा नहीं होता और न वे एक-जैसे कार्य के उपयुक्त हो सकते हैं; परंतु समाज के लिए वे सभी समान रूप से उपयोगी हैं। एक दार्शनिक कृपक का कार्य चाहे न कर सके, परंतु मानव-जाति को मानसिक भोजन अवश्य दे सकता है। इसी प्रकार एक कृपक चाहे मानव-समूह को कोई वैज्ञानिक आविष्कार में न कर सके, परंतु जीवन-धारण के लिए अन्न देने का सामर्थ्य अवश्य रखता है। एक भवन बनाने में हमें ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता होती है, जो बनने से पहले कागज पर उसकी भावी रूप-रेखा अंकित कर सके; ऐसे व्यक्ति की सहायता भी चाहिए जो इंटर-पत्यर को जमाना और जोड़ना जानता हो और ऐसे व्यक्तियों के सहयोग की अपेक्षा भी रहती है जो मिट्टी-इंट प्रस्तुत करके निर्माता तक पहुंचा सकें। पृथक्-पृथक् देखने से किसी का भी कार्य महत्त्वपूर्ण न जान पड़ेगा, परंतु उनके संयुक्त

प्रयत्न से निर्मित भवन प्रमाणित कर सकता है कि उनमें से कोई भी उपेक्षणीय नहीं था। समाज की भी यही दशा है। वह अपनी पूर्णता के लिए सब सदस्यों को उनकी शक्ति और योग्यता के अनुसार कार्य देकर उनके जीवन की सुविधाएँ प्रस्तुत करता है। जब इस नियम के विरुद्ध वह किसी को बिना किसी परिश्रम के बहुत-सी सुविधाएँ दे देता है और किसी को कठिन परिश्रम के उपरांत भी जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं से रहित रखता है, तब उसे लक्ष्य-भ्रष्ट ही कहना चाहिए, क्योंकि यह स्थिति तो बर्बरता में भी संभव थी। यदि उस स्थिति से मनुष्य सतुष्ट रह सकता तो फिर समाज की आवश्यकता ही न रह जाती। किसी भी सामंजस्यपूर्ण समाज में परिश्रम और सुख की यह विषमता संभव नहीं, क्योंकि यह उस समझौते के नितांत विपरीत है, जिसके द्वारा मनुष्य ने मनुष्य को सहयोग देना स्वीकार किया था। जो वरर मनुष्य अपने एक सुख के लिए दूसरे के अनेक सुखों को छीन लेने के लिए स्वच्छंद था, उसी की उच्छ्रलता को समाज ने न्याय के बंधन में बाध लिया है। इस बंधन के अभाव में प्रत्येक व्यक्ति फिर अपनी पूर्व स्थिति में लौट सकता है, यह इतने वर्षों के अनुभव ने अपेक्षाकृत स्पष्ट कर दिया है। कुछ व्यक्तियों के प्रति समाज का ऐसा अनुचित पक्षपात ही वह व्याधि है, जो उसके रक्त का शोषण करते-करते अंत में उसे निर्जीव कर देती है।

यह संभव है कि सबल दुबलों को अपनी बरंर शक्ति के द्वारा बांधकर रख सकें, परन्तु यह अनिच्छा और परवशता से स्वीकृत सहयोग सामंजस्य से किसी भी अर्थ में न्यून नहीं कहा जा सकता। इतिहास प्रमाणित कर देगा कि ऐसे दासत्व बहुत काल के उपरांत एक अद्भुत सहारक शक्ति को जन्म देने रहें हैं, जिसकी बाढ़ को रोकने में बड़े शक्तिशाली भी समर्थ नहीं हो सके। मनुष्य स्वभावतः जीवन को बहुत प्यार करता है, परन्तु जब सहयोगियों के निष्ठुर उत्पीड़न से वह नितांत दुबल हो उठता है, तब उसकी ममता घोरतम विरक्ति में परिवर्तित हो जाती है। पीड़ितों का समाधान संभव हो सकता है, परन्तु ऐसे हताश और जीवन के प्रति निर्मम व्यक्तियों का समाधान संभव नहीं। ऐसे व्यक्तियों का वेग आंधी के समान क्षुब्धहीन, बाढ़ के समान दिग्गहीन और विद्युत के समान लक्ष्यहीन हो जाता है। ध्यान मद्दर्शा की मनस्थिति ऐसी प्राति तक पहुंचा देना समाज की मनोविज्ञान-गुण्यता ही प्रकट करता है।

क्रांति युग की प्रवर्तिका है अथवा, परन्तु उमदा कार्य, प्रवाह की एक दिशा में रोककर दूसरी में से जाने के समान है, इसी में उग्र पहुंचने लिसा इस मिटाना पड़ता है, सीखा हुआ मुलाना पड़ता है और बमाया हुआ उमदा पड़ता है। इसीलिए सुव्यवस्थित समाज विकास-मार्ग में एक-दूसरे को गतव्य और दिशा की परीक्षा करना आवश्यक समझते हैं। बाढ़ से पहले बांध

की उपयोगिता है। जल के प्रलयकर प्रवाह में चाहे वह न बन सके, परंतु उसका पूर्ववर्ती होकर अनेक आपात सहकर भी स्थिर रह सकता है। फिर यह आवश्यक नहीं कि ऐसी संहारक और सर्वघाती प्राति, सुंदर निर्मायक भी हो। तरंग का स्वभाव तट से टकराकर लौट जाना है, यह देखना नहीं कि तीर की समरेता अधुण्य रही या नहीं रही। यह कार्य तो तट की दृढ़ता और प्रकृति पर निर्भर है। प्राति के आपात से अपनी रूप-रेखा बचा लेना उगी समाज के लिए संभव है, जो उगके उद्गम और दिशा से परिचित हो और उसे महत् करने की क्षमता रखता हो। जिस समुद्र के अन्त और अक्षाह गर्भ में पर्वत खो गये हैं, उमी के तट से सवध रखने वाले गोताखोर मोती निकाल साते हैं और जिस उची लहर के सामने बड़े-बड़े पोत बह जाते हैं उसी में, तट पर आधार-स्तंभ के सहारे, मनुष्य स्नान करके निर्मल हो जाते हैं।

यदि समाज के पास ऐसा आधार-स्तंभ हो तो प्रातियां उसे और अधिक निर्मल बना सकती हैं। इसकी अनुपस्थिति में निरुद्देश्य बहना ही अधिक संभव है, जो मनुष्य और समाज के युगदीपं यथन को शिथिल किये बिना नहीं रहता।

स्त्री-पुरुष का संबंध भी अर्थ से कम महत्त्वपूर्ण नहीं। समाज को बाधने वाला यह सूत्र कितना सूक्ष्म और दृढ़ है, यह उसके क्रमिक विकास के इतिहास से प्रकट हो जाएगा।

यह धारणा कि गृह का आधार लेकर समाज का निर्माण हो सका है आपुनिकता के आलोक में पुरानी मानी जावेगी। परंतु नैतिक दृष्टि से समाज-वृक्ष के मधन मूल का पहला अंकुर स्त्री, पुरुष और उसकी संतान में पनपा, इसे निर्मूल सिद्ध कर देना संभव नहीं हो सकेगा।

यदि यह ध्यान से देखें तो ज्ञात होगा कि बहुत काल से स्त्री की स्थिति समाज का विकास नापने के लिए माप-दंड रही है। नितात बर्बर जाति में स्त्री केवल विनोद का साधन और अधिकार में रखने की वस्तु समझी जाती रही। आज भी जगली जातियों में स्त्री की वह स्थिति नहीं है जो मध्य समाज में मिलेगी। उस आदिम युग में मातृत्व स्त्रीत्व का आकस्मिक परिणाम था, जिससे जाति तो लाभ उठाती थी, परंतु स्त्री उपयोगी यत्र से अधिक गौरव नहीं पाती थी। तब स्त्री-पुरुष का संबंध भी अपने धार्मिक विनोद और उत्तरदायित्वहीनता के कारण पशुत्व का ही एक रूप था। वह यदि पशुत्व से निकृष्ट नहीं कहा जा सकता तो उत्कृष्ट होने का गर्व भी नहीं कर सकता। कही पुरुषों का समूह का समूह स्त्री-समूह से विवाहित था, कही एक पुरुष के अधिकार में पालतू पशुओं के समान बहुत-सी स्त्रियां थी और कही स्त्री की सख्या न्यून होने के कारण अनेक पुरुष एक स्त्री पर अधिकार रखते थे। सारांश

ह कि जहा जनसंख्या के अनुसार जैसी आवश्यकता थी वैसे ही नियम न गये ।

जाति की वृद्धि और पुरुषों के मनोविनोद का साधन होने के अतिरिक्त स्त्री का कोई और उपयोग नहीं था । आनंद व अग्न्य उपकरणों के समान उन्हें उपस्थितों से जीत लाना या सुयोग पाकर उनका अपहरण कर लाना साधारण-सी बात थी । स्त्री के हृदय है या उसकी इच्छा-अनिच्छा भी हो सकती है, यह आदिम काल के पुरुष की सहज बुद्धि से परे था, परंतु जैम-जैसे मानव-जाति पशुत्व की परिधि से बाहर आती गई, स्त्री की स्थिति में भी अंतर पड़ता गया । जाति की माता होने के नाते उसके प्रति कुछ विशेष आदर का भाव भी प्रदर्शित किया जाने लगा । जब और कैसे पुरुष तथा स्त्री के संबंध में उस आभक्ति का जन्म हुआ जिसने समय के प्रवाह में परिष्कृत से परिष्कृततर होते-होते गृह की नींव डाली, यह जान मचना कठिन है, परंतु अनुमानत दोनो की ही श्रुति और सहज बुद्धि ने उस अव्यवस्थित जीवन की त्रुटियां समझ ली होगी । अस्पर सघर्ष में लगी हुई जातियों को तो इतना अवकाश ही न मिलता था कि वे जीवन की विशेष सुविधाओं का अभाव अनुभव करती । परंतु जब उन्होंने अपेक्षाकृत शांति से बसने का स्थान खोज निकाला और जीवन के लिए कुछ सुविधाएं प्राप्त कर ली तब उनका ध्यान स्त्री की स्थायी उपयोगिता पर भी गया । पुरुष ने देखा, वह कभी श्रांत, कभी क्लान्त और कभी रोगग्रस्त एकाकी है । ऐसी दशा में किली मृदुस्वभावा सहचरी के साहचर्य की ओर उसकी बन्धना स्वतः प्रभावित होने लगी तो आश्चर्य ही क्या है । अपने अभाव के अतिरिक्त पुरुष की अधिकार-भावना भी गृह की नींव डालने में बहुत सहायक हुई होगी । अपनी तलवार, अपने धनुष-बाण के समान पुरुष अपनी स्त्री और अपनी सतान कहने के लिए भी धातुर ही उठा । मनोज्ञ स्त्री को सघर्ष से बचाने और जाति को वीर पुत्र देने का गर्व करने के लिए भी यह आवश्यक था कि स्त्री एकांत रूप से उसी के अधिकार में रहती । स्त्री ने भी अनिश्चित और सघर्षमय बाह्य जीवन से थककर अपने तथा अपनी सतान के लिए ऐसा साहचर्य स्वीकार किया, जो उसे जीवन की अनेक असुविधाओं से मुक्त कर सकता था । इस साहचर्य के नियम बहुत काल तक कोई स्पष्ट रूप रेखा न पा सके, क्योंकि उस समय तक मनुष्य-समूह की स्थिति में भी निरंतर परिवर्तन होता रहता था ।

जिस समाज में हर पुरुष तथा स्त्री के संबंध का प्राचीनतम रूप देख सकते हैं, वह वैदिक समाज है, परंतु वह अपनी संस्कृति और प्रगतिशीलता के कारण किसी भी अर्थ में आदिम काल का समाज नहीं कहा जा सकता । उस समय तक समाज की रूप-रेखा स्पष्ट और उद्देश्य निश्चित हो जाने के कारण स्त्री की

स्थिति में भी बहुत अंतर आ चुका था।

वेदकालीन समाज जीवन-धारण के लिए अनिवार्य अग्नि, इद्र, सूर्यादि का महत्त्व समझ चुका था; रात्रि, उषा आदि की अभिन्न सुपमा देखकर भाव-विह्वल हो चुका था; नवीन स्थान में अपने सगठन को दृढतर करने के लिए वर्ण-व्यवस्था का आविष्कार कर चुका था और जाति की वृद्धि और प्रसार के लिए व्यक्ति को धर्म की दीक्षा दे चुका था। गृह के बिना पुरुष का कहीं बसना संभव नहीं और स्त्री के बिना गृह नहीं अतः स्त्री पुरुष की सहधर्मिणी निश्चित की गई। उन दोनों का उद्देश्य समाज को सुयोग्य सतान की मेंट देना और फिर उस सतान के लिए स्थान रिक्त करके अवकाश लेना था। उस समय जाति की विधात्री होने के कारण स्त्री आवश्यक और आदरणीय तो थी ही, साथ ही उसके जीवनचर्या संबंधी नियम भी अधिक कठोर नहीं बनाये जा सके। महधर्मिणीत्व के अभाव में भी समाज उसकी सतान को त्याग्य नहीं कह सकता था; सौभाग्य से शून्य होने पर भी समाज उसे गृहधर्म से निर्वि-संन-दंड न दे सकता था। वह मत्स्योदरी होकर भी राजरानी के पद पर प्रति-ष्ठित हो सकती थी, कुती होकर भी मातृत्व की गरिमा से गुरु रह सकती थी और द्रौपदी होकर भी पतिव्रता के आसन से नहीं हटाई जा सकती थी। वह समाज की स्थिति के लिए पुरुष की सहधर्मिणी थी, पुरुष की अधिकार-भावना से बंधी अनुगामिनी मात्र नहीं। जैसे-जैसे भिन्न परिस्थितियों में उसकी सामाजिक उपयोगिता घटती गई, जैसे-जैसे पुरुष व्यक्तिगत अधिकार-भावना से उसे घेरता गया। अतः यह स्थिति ऐसी पराकाष्ठा को पहुँच गई जहाँ व्यक्तिगत अधिकार-भावना ने स्त्री के सामाजिक महत्त्व को अपनी छाया से ढक लिया। एक बार पुरुष के अधिकार की परिधि में पंर रख देने के पश्चात् जीवन में तो क्या, मृत्यु में भी वह स्वतंत्र नहीं। इस विधान ने ही विधवा की दयनीय स्थिति संभव कर दी। कदाचित् पहले यह विधान वर्णों के बंधन कुछ कठिन हो जाने पर उन सतानवती विधवाओं के लिए किया गया होगा, जिनको अपने बालकों का पालन उनके पिता के कुल और सस्कृति के अनुसार करना होता था।

प्रत्येक युग की सुविधा और असुविधाओं ने स्त्री-पुरुष के बंधन को विशेष रूप से प्रभावित किया है और प्रायः वह प्रभाव स्त्री की स्थिति में अधिक अंतर लाता रहा। शासकों में उसके प्रतिनिधियों की संख्या शून्य-सी रही है, अतः उसके सब विधान पुरुष की सुविधा के केंद्र-बिंदु बनाकर रचे गये। आध्यात्मिकता का सूक्ष्म अवलंब लेकर पुरुष के प्रति उसका जो कर्तव्य निश्चित किया गया है, उसमें उसके या समाज के हानि-लाभ का विशेष ध्यान नहीं रखा जा सका, यह स्पष्ट है। पुरुष और स्त्री का संबंध केवल आध्यात्मिक न होकर

व्यावहारिक भी है, इस प्रत्यक्ष सत्य को समाज न जाने कैसे अनदेखा करता रहा है। व्यावहारिकता में एक व्यक्ति को दूसरे के लिए जो त्याग करना पड़ता है, उसके उपयुक्त मानसिक स्थिति उत्पन्न कर देना आध्यात्मिकता का कार्य और आध्यात्मिकता में जिस यथार्थता का स्पर्श हम मुला देते हैं, उसे स्मरण कराते रहना व्यावहारिकता का लक्ष्य है। जब तक दास्य सबंध में पशुत्व देवत्व में धुलकर नहीं आता और देवत्व साकार बनकर नहीं अवतीर्ण होता, तब तक वह अपूर्ण ही रहेगा।

जैसे-जैसे हमारा समाज अपने आधे सदस्यों से अधिकारहीन बलिदान और आत्म-मर्पण लेता जा रहा है, वैसे-वैसे वह भी अपने अधिकार खोता जा रहा है, यह समाज के असतोषपूर्ण वातावरण से प्रकट है।

आज के समाज की जो स्थिति है, उसकी उपयुक्त परिभाषा कठिनाई से दी जा सकेगी। वह कुछ विशेष अधिकार-संपन्न और कुछ नितांत अधिकारशून्य व्यक्तियों का ऐसा समूह है, जो उपयोगिता से नहीं बरन् परंपरागत धारणा से बंधा है। वही सतोष की अतिवृष्टि है और वही असतोष की अतावृष्टि, जिससे सामाजिक जीवन का सामंजस्य नष्ट होता जा रहा है।

हमारा समाज अब प्राचीन काल का सुमंगलित मानव-समूह नहीं रहा, जिमके हाथ में राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक आदि सभी व्यवस्थाएँ थीं। अब भिन्न भिन्न समाज स्वयं अपना शासन नहीं करते अतः सदस्यों में सबंध रहना संभव नहीं जो प्राचीन सगठनों में मिल सकता था। इस प्रकार शासन-सत्ता से हीन होकर समाज दड और पुरस्कार की विशेष क्षमता नहीं रखता। आरंभ में उसने अपनी इम क्षति की पूर्ति का साधन धर्म को बनाया, जिससे सामाजिक बंधन बहुत कठिन और दुर्लभ हो उठे। धर्म जब मनुष्य के भावना-द्वार से हृदय तक पहुँचता है तब उसके प्रभाव से मनुष्य की विचारधारा वैसे ही विवर्धित हो उठती है जैसे मलय-ममीर से बली। परंतु वही धर्म जब मनुष्य की बुद्धि पर बलात् ढाल दिया जाता है तब वह अपने भार से मनुष्य की कोमल भावनाओं को बुचल-बुचलकर निर्जीव और रमहीन बनाएँ बिना नहीं रहता। धर्म का शासन हमारे जीवन पर वैसा ही प्रयागहीन होना चाहिए, जैसा हमारी इच्छा-शक्ति का आचरण पर होना है। सप्रयास धर्म जीवन का सबसे बड़ा अनिशाप है। न वह जीवन की गहराई तक पहुँच सकता है और न उसकी प्रत्येक शिरा में व्याप्त होकर उसे रमय ही कर सकता है। बीज को हम वृक्ष की मजबूत ऊँची डाल के अग्रभाग के साथ बहुत ऊँचाई तक पहुँचा सकते हैं, परंतु वहाँ उसे जमा करना हमारी क्षमता के बाहर की बात है। उसे अकृत्रिम होकर आकाश छूने के लिए पत्थर की गहराई में जाना होता है, यह प्रकृति का अटम नियम है। शासन-सत्ता के साथ, समाज को अन्य सामाजिक समस्याओं की

व्यवस्था पर भी अपना प्रभुत्व कम करना पड़ा जिससे समाज और सामाजिक संस्थाएं विकास-मार्ग में साथ-साथ न चल सकीं। नवीन परिस्थितियों में, समाज के सदस्यों को सुसंगठित होकर एक स्थान में बसने की सुविधा न मिलना भी सामाजिक बंधन की शिथिलता का कारण बन गया। कुछ ध्यनितवाद ने और कुछ समाज की अव्यावहारिकता ने मनुष्य को अपनी सामाजिक उपयोगिता भूल जाने पर बाध्य कर दिया।

इस प्रकार अनेक बाह्य और आंतरिक, प्रकट और अप्रकट कारणों ने समाज का वह रूपांतर कर डाला, जिससे सामूहिक रूप से हमारी हानि हुई। कुछ प्राकृतिक परिस्थितियों पर हमारा वश नहीं था, यह सत्य है, परंतु यदि हम उनके अनुरूप सामाजिक संगठन कर सकते तो ऐसी अराजकता नितांत असंभव हो उठती।

इस समय समाज में हमारा अभिप्राय संप्रदाय-विशेष या जाति-विशेष ही रहता है, जिसके भिन्न-भिन्न स्थानों में फैले हुए सदस्यों के आचरण और रीतियों में एक विशेष समानता रहती है। कुछ समय पूर्व तक यह समाज अपने इने-गिने अधिकारों का प्रयोग विवेक-शून्य निष्ठुरता के साथ करता रहा, परंतु इससे बंधने के स्थान में मारे सदस्य दूर-दूर होते गए। अब तो विवाह आदि के समय ही व्यक्ति अपने जाति-भाइयों की खोज करता है, परंतु यह अनिवाद्यता भी धीरे-धीरे शिथिल होती जा रही है।

प्रत्येक जाति और संप्रदाय में कुछ उग्र विचार वाले, कुछ नवीनता के समर्थ उपासक और कुछ रुढ़िवादी अवश्य मिलेंगे। इनके बिखर जाने के कारण कुछ समाज ऐसे भी बन गये हैं जिनका आधार विचारधारा है, जाति या संप्रदाय नहीं। परंतु जाति के संगठन में यदि उपयोगिता का अभाव है तो इनमें व्यावहारिकता की शून्यता है। उग्र विचारवालों में विचार के अतिरिक्त और कोई समानता नहीं, समर्थ विचार वालों में पर्याप्त साहस नहीं और रुढ़िवादियों में व्यवहारकुशलता नहीं। समाज को ऐसा अपरूप देने का कुछ श्रेय पारचात्य सभ्यता को भी देना होगा, क्योंकि उसके अभाव में ऐसे परिवर्तन प्राकृतिक ढंग से आते। एक विदेशीय संस्कृति में पला समाज जब शासक के रूप में आ जाता है तब शासित जाति के संगठन में कुछ आकस्मिक परिवर्तन होना स्वाभाविक ही है। कोई भी पहले से प्रतिष्ठित संस्कृति न एकदम पराजय स्वीकार कर सकती है और न विजय में एकांत विश्वास ही रखती है। शासक और शासित समाज का सघर्ष उच्छूलन भी हो सकता है और संयत भी, यह ऐतिहासिक सत्य है। किसी समय भारतीय संस्कृति और समाज को मुस्लिम संस्कृति से लोहा लेना पड़ा था और उस अग्निवर्षा से वह अक्षत निकल आई। इस विजय का कारण उस सघर्ष का बाह्य और उच्छूलन होना ही कहा जा

सत्ता है। किसी जाति की संस्कृति उसके शरीर का वस्त्र न होकर उसकी आत्मा का रस है, इसी से न हम उसे बलात् छीन सकते हैं और न चीर-फाड़ कर फेंक सकते हैं। उस रस का स्वाद बदलने के लिए तो हमें उससे अधिक मधुर औषधि पिलानी पड़ेगी। जब-जब बाहर की संस्कृति विवेक-शून्य होकर आई, उसे पराजय ही हाथ लगी, जब उसने विवेक बुद्धि से काम लिया तब अपने पीछे विजय की ज्वलत कहानी छोड़ती गई है।

पाश्चात्य संस्कृति ने हमें युद्ध की चुनौती न देकर मित्रता का हाथ बढ़ाया, इसी से हमारा उससे कोई बाह्य संघर्ष भी नहीं हुआ। वह हमारी अनेक सामाजिक समस्याओं में प्रवेश पाते-पाते हमारे हृदय में प्रविष्ट हो गई और इस प्रकार बिना किसी संघर्ष के भी हमारे जीवन को उतना ही प्रभावित कर सकी जितना स्वयं हमारी संस्कृति कर सकती थी। उसके उपयोगिता या अनुपयोगिता के सत्रय में बहुत कुछ कहा जाता रहा है और कहा जाता रहेगा, परंतु इतना दोनों ही दशाओं में सत्य है कि उसने हमारे सामाजिक दृष्टिकोण को बदल दिया है। शासक-संस्कृति होने के कारण यह अन्य संस्कृतियों के समान हमारी संस्कृति में विलीन होना नहीं चाहती, अन्यथा इससे हमारे विकास में कोई विशेष बाधा न पहुंचती। वर्तमान परिस्थितियों में उसने हमारे क्षिणिक समाज के भीतर एक ऐसे समाज का निर्माण कर दिया है, जिसकी आत्मा भारतीय और शरीर अभारतीय जान पड़ता है। इसे न हम साथ ले चल सकते हैं और न छोड़ सकते हैं। वह पश्चिमीय विचारधारा में ब्रह्मकर भी उससे घागित नहीं होता और भारतीयता में जीवित रहकर भी उससे प्रभावित नहीं होता।

संगठन की इन असुविधाओं के साथ-साथ विषम अर्थ-विभाजन और स्त्री की स्थिति समाज की नींव को खोपला बिये दे रही है—इसका उत्तरदायित्व समाज और शासन-विभाग दोनों पर है गही, परंतु उमंगे उत्पन्न, अव्यवस्था का अधिकांश समाज को मिलता है। केवल शक्ति से शासन हो सकता है समाज नहीं बन सकता, त्रिमूर्ती स्थिति मनुष्य के स्वच्छंद महयोग पर स्थित है। निरकृपा शासन शासन का अंत कर सकता है, निरकृपा समाज मनुष्यता को समाप्त कर देना है△

हमारा देश और राष्ट्रमापा

हमारा हिमालय से कन्याकुमारी तक फैला हुआ देश, आकार और आत्मा दोनों दृष्टियों से महान् और सुंदर है। उसका बाह्य सौंदर्य विविधता की सामंजस्यपूर्ण स्थिति है और आत्मा का सौंदर्य विविधता में छिपी हुई एकता की अनुभूति है।

चाहे कभी न गलने वाला हिम का प्राचीर हो, चाहे कभी न जमने वाला अतल समुद्र हो, चाहे किरणों की रेखाओं से खचित हरीतिमा हो, चाहे एकरस शून्यता ओढ़े हुए मरु हो, चाहे सावले भरे मेघ हो, चाहे तपटो में सास लेता हुआ बवडर हो, सब अपनी भिन्नता में भी एक ही देवता के विग्रह को पूर्णता देते हैं। जैसे मूर्ति के एक अंग का टूट जाना सपूर्ण देव-विग्रह को खटित कर देता है, वैसे ही हमारे देश की अखंडता के लिए विविधता की

यदि इस भौगोलिक विविधता में व्याप्त सांस्कृतिक एकता न होती, तो यह विभिन्न नदी, पर्वत, वनों का सग्रह-मात्र रह जाता। परंतु इस महादेश की प्रतिभा ने इसकी अंतरात्मा को एक रसमयता में प्लावित करके इसे विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान किया है, जिससे यह आसमुद्र एक नाम की परिधि में बंध जाता है।

हर देश अपनी सीमा में विकास पाने वाले जीवन के साथ एक भौतिक इकाई है, जिससे वह समस्त विश्व की भौतिक और भौगोलिक इकाई से जुड़ा हुआ है। विकास की दृष्टि से उसकी दूसरी स्थिति आत्म-रक्षात्मक तथा व्यवस्थापरक राजनीतिक सत्ता में है। तीसरी सबसे गहरी तथा व्यापक स्थिति उसकी सांस्कृतिक गतिशीलता में है, जिससे वह अपने विशेष व्यक्तित्व की रक्षा और विकास करता हुआ विश्व-जीवन के विकास में योग देता है। यह सभी बाह्य और स्थूल तथा आंतरिक और सूक्ष्म स्थितियां एक-दूसरी पर प्रभाव डालती और एक-दूसरी से सममित होती चलती हैं।

एक विशेष भू-खण्ड में रहने वाले मानव का प्रथम परिचय, सर्पक और सर्प अपने वातावरण से ही होता है और उससे प्राप्त जय, पराजय, समन्वय आदि से उसका कर्म-जगत् ही संचालित नहीं होता, प्रत्युत अतर्जगत् और मानसिक सस्कार भी प्रभावित होते हैं।

व्यवस्थापरक शासन, विधिनियममयी आचार-नीति, दर्शन, साहित्य आदि एक अनन्त विकास-क्रम में घघकर ही एक विशेष भूमण्डल में स्पष्टित जीवन को विशेष व्यक्तित्व देते हैं। इस प्रकार राष्ट्र न केवल नदी, पर्वत, वन का समूह है न शून्य में स्थिति रखने वाले मानवों की भीड़ मात्र। एक स्वस्थ मानव जैसे पार्थिव शरीर में सूक्ष्म चेतना तक और प्रत्यक्ष कर्म से अदृष्ट सकल्प स्वप्न तक एक ही इकाई है, वैसे ही राष्ट्र भी विभिन्न स्थूल और सूक्ष्म रूपों और प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष शक्तियों का एक जीवित गतिशील विग्रह है।

परिस्थितियाँ क्षणजीवी होती हैं, परंतु उनके सस्कारों का जीवन अक्षय ही रहता है। किसी जाति या देश की राजनीतिक पराजय आकस्मिक हो सकती है, परंतु उसका सांस्कृतिक अवरोध उसकी जीवनी शक्ति के अवच्छेद होने पर ही संभव है।

वैसे व्यापक अर्थ में मानव-संस्कृति एक ही है, क्योंकि मनुष्य के बुद्धि और हृदय का सस्कार-क्रम उसके जीवन के समान ही व्यापक और निश्चित है। परंतु जैसे विकास की दृष्टि से वृक्ष एक होने पर भी उसका आधियों से लोहा लेने वाला तना, मद वायु के सामने झुकने वाली शाखाएँ, चिर चंचल पल्लव और झरझर बरसने वाले फूल, सबका अपना-अपना विकास है, जैसे शरीर एक होने पर भी अंगों का गठन और विकास एकरूप नहीं होता, वैसे ही मानव-संस्कृति एक होकर भी अनेक रूपात्मक ही रहेगी। उसकी विविधता का नष्ट होना उसके व्यवित्तत्व का पापाणीकरण है।

हमारा देश अपने प्राकृतिक वैभव में जितना समृद्ध है, अपनी आंतरिक विभूतियों में उससे कम गुरु नहीं। उसकी मूलगत समानता, लक्ष्यगत एकता और इन दोनों को जोड़ने वाली प्रदेशगत विविधता की तुलना के लिए ऐसी नदी को खोजना होगा, जो एक हिमालय से निकलकर एक समुद्र में मिलने के पहले अनेक धाराओं में बिखर-बटकर प्रवाहित होती है। जैसे विभिन्न दूर-भास के अंगों में रक्त का एक हृदय में आना और एक से पुनः अनेक में लौट आना ही शरीर की संचालक शक्ति है, इसी प्रकार भारतीय संस्कृति बार-बार एक केंद्र-बिंदु को छूकर दूर प्रसार की क्षमता पाती रही है।

रूपात्मक प्रवृत्ति के प्रति हमारी रागात्मक दृष्टि, जीवन के प्रति हमारी आस्था, समाज, देश और विश्व के विषय में हमारी नैतिक मान्यताएँ तत्त्वतः एक रही हैं, इसी से हमारे साहित्य, कला, दर्शन आदि अपनी विविधता में भी

एक ही हैं।

जहां तक भाषा का संबंध है, प्रत्येक विद्वान् जानता है कि ध्वनि पर कठ और कठ पर वातावरण का अनिवार्य प्रभाव एक भाषा में भी एकरूपता नहीं रहने देता। हमारे विशाल राष्ट्र में विविध भाषाओं की स्थिति स्वाभाविक है; परंतु किसी भी जीवित-जाग्रत देश की भाषा की तुलना उन सबको से नहीं की जा सकती, जो बाजार में क्रय-विक्रय के जड़ माध्यम मात्र हैं। वस्तुतः भाषा जीवन की अभिव्यक्ति भी है। सौरभ फूल का नाम और परिचय देता है; पर वह उसके विकास का व्यक्त रूप भी है, जो मिट्टी, धूप, पानी आदि के संयोग से प्राप्त होता है। विशेष भू-भाग में रहने वाले मानव-समूह की भाषा उसके परस्पर व्यवहार का माध्यम होने के साथ-साथ उस समूह के जीवन, सुख-दुःख, आकर्षण-विकर्षण, स्वप्न-आकांक्षा, यथार्थ-आदर्श, जय-पराजय आदि की स्वाभाविक अभिव्यक्ति भी है। अतः भाषा के साथ क्रिमी जाति की संस्कृति भी अविच्छिन्न संबंध में बंधी रहती है, क्योंकि उसके अभाव में भाषा के विकास की आवश्यकता नहीं रहती। यदि हमारी थोड़ी-सी स्थूल आवश्यकताएँ हैं, तो उन्हें व्यक्त करने के लिए इने-गिने शब्द-सकेत ही पर्याप्त होंगे।

किसी हाट में क्रय-विक्रय के कार्य के लिए आवश्यक शब्दों की सख्या अधिक नहीं होती; परंतु जब हम अपने भाव-जगत्, विचार-मंथन, सौंदर्यबोध आदि को आकार देने बैठते हैं तब हमें ऐसी शब्दावली की आवश्यकता पड़ती है, जो भाव के हर हल्के-गहरे रंग को व्यक्त कर सके, युद्धि की हर क्षणिक और स्थायी प्रक्रिया को नाम दे सके, सौंदर्य की हर सूक्ष्म स्थूल रेखा को ओक सके। हम भाषा के अध्ययन से यह निर्णय कर सकते हैं कि उसे बोलने वाली जाति सांस्कृतिक दृष्टि से विकास का कौन-सा प्रहर पार कर रही है। संस्कृति या संस्कृति कोई निर्मित वस्तु न होकर विकास का अनवरत क्रम है। मनुष्य का प्रत्येक कर्म अपने पीछे विचार, चिंतन, सकल्प, भाव तथा अनुभूति की दीर्घ और अटूट परंपरा छिपाये रहता है, इसी से संस्कार-क्रम भी अव्यक्त और व्यक्त दोनों सीमाएँ छूता हुआ चलता है। भाषा संस्कृति का लेखा-जोखा रखती है, अतः वह भी अनेक संकेतों और व्यंजनाओं में ऐश्वर्यवती है।

हमारे देश ने आलोक और अधकार के अनेक युग पार किये हैं; परंतु अपने सांस्कृतिक उत्तराधिकार के प्रति वह एकांत सावधान रहा है। उसमें अनेक विचारधाराएँ समाहित हो गईं, अनेक मान्यताओं ने स्थान पाया; पर उसका व्यक्तित्व सार्वभौम होकर भी उसी का रहा। उसके अंतर्गत आलोक ने उसकी वाणी के हर स्वर को उसी प्रकार उद्भासित कर दिया, जैसे आलोक हर तरंग पर प्रतिबिंबित होकर उसे आलोक की रेखा

बना देता है। एक ही उत्स से जल पाने वाली नदियों के समान भारतीय भाषाओं के बाह्य और आंतरिक रूपों में उत्सगत विशेषताओं का सीमित हो जाना ही स्वाभाविक था। कूप अपने अस्तित्व में भिन्न हो सकते हैं, परंतु धरती के तल का जल तो एक ही रहेगा। इसी से हमारे चितन और भावजगत् में ऐसा कुछ नहीं है, जिसमें सब प्रदेशों के हृदय और बुद्धि का योगदान और समान अधिकार नहीं है।

आज हम एक स्वतंत्र राष्ट्र की स्थिति पा चुके हैं, राष्ट्र की अनिवार्य विशेषताओं में दो हमारे पास हैं, भौगोलिक अखंडता और सांस्कृतिक एकता, परंतु अब तक हम उस वाणी को प्राप्त नहीं कर सके हैं, जिसमें एक स्वतंत्र राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों के निकट अपना परिचय देता है। जहां तक बहु भाषाभाषी होने का प्रश्न है, ऐसे देशों की संख्या कम नहीं है जिनके भिन्न भागों में भिन्न भाषाओं की स्थिति है। पर उनकी अविच्छिन्न स्वतंत्रता की परंपरा ने उन्हें सम-विषम स्वरों से एक राग रच लेने की क्षमता दे दी है।

हमारे देश की कथा कुछ दूसरी है। हमारी परतंत्रता आघो-तूफान के समान नहीं आई, जिसका आकस्मिक संपर्क तीव्र अनुभूति से अस्तित्व को कपित कर देता है। वह तो रोग के कीटाणु लाने वाले मद समीर के समान सास में समाकर शरीर में व्याप्त हो गई है। हमने अपने मपूर्ण अस्तित्व से उसके भार को दुर्वह नहीं अनुभव किया और हमें यह ऐतिहासिक सत्य भी विस्मृत हो गया कि कोई भी विजिता विजित देश पर, राजनीतिक प्रभुत्व पाकर ही सतुष्ट नहीं होता, क्योंकि सांस्कृतिक प्रभुत्व के बिना राजनीतिक विजय न पूर्ण है न स्थायी। घटनाएँ संस्कारों में चिर जीवन पाती हैं और संस्कार के अक्षय वाहक, शिक्षा, साहित्य, कला आदि हैं।

दीर्घकाल से विदेशी भाषा हमारे विचार-विनिमय और शिक्षा का माध्यम ही नहीं रही, वह हमारे विद्वान् और संस्कृत होने का प्रमाण भी मानी जाती रही है। ऐसी स्थिति में यदि हममें से अनेक उसके अभाव में जीवित रहने की कल्पना से सिंहर उठते हैं, तो आश्चर्य की बात नहीं। पर रोग की स्थिति को स्थायी मानकर तो चिन्तना संभव नहीं होती। राष्ट्र-जीवन की पूर्णता के लिए उनके मनोजगत् को मुक्त करना होगा और यह कार्य विशेष प्रयत्न-साध्य है, क्योंकि शरीर को बाधने वाली शृंखला से आत्मा को जकड़ने वाली शृंखला अधिक दृढ़ होती है।

आज राष्ट्रभाषा की स्थिति के संबंध में विवाद नहीं है; पर उसे प्रतिष्ठित करने के साधनों को लेकर ऐसी विवादप्रणाली जागी है कि साध्य ही दूर में दूरतर होता जा रहा है। विवाद जब तक की सीधी रेखा पर चलता है, तब सद्य निकट आ जाता है; पर जब उसके मूल में आसक्त, अविश्वास और अनिच्छा

रहती है, तब कही न पहुँचना ही उसका लक्ष्य बन जाता है।
 आधुनिक युग में जब विज्ञान ने समुद्रों और पर्वतों आ अंतर दूर कर एक
 देश को दूसरे देश के पास पहुँचा दिया है, जब अणुबम की अंनक छाया में भी
 अमर मानवता जाग उठी है और जब ध्वंस की लपटों के नीचे भी निर्माण के
 अंकुर सिर उठा रहे हैं तब हम अपने मनो की दूरी बढ़ाकर, संदेह के प्राचीर
 खड़े कर और विरोध के स्वरो में बोलकर अपनी महान् परंपराओं की अवज्ञा
 ही करेंगे।

एक सुंदर स्वप्न अनेक सुंदर स्वप्नों में समाकर जीवन को विराट् सौंदर्य
 देता है, एक शिव सकल्प अनेक शिव सकल्पों में लीन होकर मनुष्य को विद्याल
 शिवता देता है, एक निष्ठा मम कर्म अनेक निष्ठा मम कर्मों से मिलकर विश्व को
 अधाय गति देता है। इसके विपरीत एक दुर्भाव अनेक दुर्भावनाओं में मिलकर
 जीवन को विरूप कर देता है, एक अविश्वास अनेक अविश्वासों के साथ मनुष्य
 को असत्य कर देता है और एक आघात अनेक आघातों को पक्तिवद्ध कर
 मनुष्यता को क्षत-विधत कर देता है।

हम जीवन को सौंदर्य और गति देने वाली प्रवृत्तियों के साथ रहकर जिग
 प्रश्नों का समाधान करना चाहेंगे, वे स्वयं उत्तर बन जाएंगे।

जहा तक हिंदी का प्रश्न है, वह अनेक प्रादेशिक भाषाओं की सहोदरा और
 एक विस्तृत त्रिविधता-भरे प्रदेश में अनेक देशज बोलियों के साथ पलकर बढी
 हुई है। अवधी, ब्रज, भोजपुरी, मगही, वृदेली, बघेलखड़ी आदि उसकी धूल में
 खेलने वाली चिर सहचरियाँ हैं। इनके साथ कछार और सेतो, मचान और
 भोपड़ियों, निर्जन और जनपदों में भूम-धूमकर उमने उजले आसू और रगोन
 हंसी का संबल पाया है।

साधकी ने अपने कमंडल के पूत जन से इसे पवित्र बनाया है। साम्राज्य-
 वाद का स्वर्ण-मुकुट न इसकी धूलि-धूसरित उन्मुक्त पलको को बाध सका है, न
 बांध सकेगा। दीपक की लौ पर सोने का खोल बसा उसे बुझा नहीं देगा।

जब राजतंत्र के युग में भी वह द्वार-द्वार पर समानता का अलख जगाती
 रही, तब आज जनतंत्र के युग में उसके लिए प्रासाद की कल्पना उसकी मुक्त
 आत्मा के लिए कारागार की रचना ही कही जाएगी।

हिंदी के प्रादेशिक और भारतीय रूप भी चर्चा के विषय बन रहे हैं। यह
 प्रश्न बहुत कुछ ऐसा ही है, जैसे एक हृदय के साथ दो शरीरों की परिकल्पना।
 हिंदी की विशेषता उसकी मुक्ति में रही है, इसका प्रमाण उसके शब्दकोष
 में मिल सकेगा। उसने देशज बोलियों तथा देशी-विदेशी भाषाओं से शब्द ग्रहण
 करने में न कमी सकीर्णता दिखाई और न उन्हें अपना बनाने में दुविधा का
 अनुभव किया। परंतु विकसित परिष्कारित और साहित्यवती भाषा का कोई

सर्वमान्य रूप या मानदंड न हो, ऐसा संभव नहीं होता ।

आज हिंदी में साहित्य सृजन करने वालों में कोई बिहार का मगही-भाषी है, कोई मधुरा का ब्रज-भाषी । परंतु बुंदेलखंडी बोलने वाले राष्ट्रकवि मैथिली-शरण, वैसवाड़ी बोलने वाले कविवर निराला और कुमाउनी बोलने वाले श्री मुमिनादन जी क्या समान रूप से हिंदी के वरद पुत्र नहीं बड़े जाते । यदि हिंदी को बिहारी हिंदी, अवधी हिंदी, बुंदेली हिंदी नहीं बनाया जा सकता है, तो उसका कारण हिंदी का वह सखिल्य रूप और मूलगत गठन है, जिगके बिना कोई भाषा महत्त्व नहीं पाती ।

अंग्रेजी भाषा भाषी विश्व-भर में फैले हैं, उनमें देगज संस्कार भी हैं; परंतु हमसे अंग्रेजी का न सर्वमान्य गठन सखित होता है और न उमें नये नाम-करणों की आवश्यकता होनी है । विश्व की सभी महत्त्वपूर्ण भाषाओं में सबध में यह सत्य है । परिवर्तन भाषा के विकास का परिचय है, पर परिवर्तन में अननिहित एक सारतम्यता उमके जीवन का प्रमाण है । शिशु के वृद्ध होने तक शरीर न जाने कितने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष परिवर्तनों का क्रम पार करता है, परंतु उसकी मूलगत एकता अभुण्ण रहकर उमें एक सजा से घेरे रहती है । भाषा केवल संकेत लिपि नहीं है, प्रत्युत उमके हर शब्द के पीछे सखतित वस्तु स्पष्टित रहती है और प्रत्येक शब्द का एक सजीव इतिहास होता है । अत एक जीवित भाषा का जीवन के साथ ही विकसित और परिमार्जित होते चलना स्वाभाविक है ।

भाषा भी गढ़ी जाती है, परंतु वह एक कुभवार का घट निर्माण नहीं, मिट्टी का अकुर निर्माण है । जिग प्रकार मनुष्य की मूलगत प्रवृत्तियों को नये लक्ष्य में जोड़कर हम उमके अप्रत्यक्ष आदर्श और प्रत्यक्ष कर्म का निर्माण कर सकते हैं उमी प्रकार भाषा की नैगमिक वृत्तियों से नये भाव, नयी वस्तु, नये विचार जोड़कर हम उमें नये रूपा में समृद्ध करते रहते हैं । हिंदी का प्राकृत से ब्रज-अवधी तथा उमें खड़ी बोली तक आने का क्रम जिनना आदर्शयंजनक है, उमना ही अनामास, क्योंकि जिग खोकहृदय के साथ यह विकसित हुई, उमसे इमका घरती और बीज का-ना सबध था, जिगम एक दवर पाना है और दूसरा पाकर देता है ।

हिंदी अपना भविष्य किमी में दान में नहीं चाहती । वह तो उमकी गति का स्वाभाविक परिणाम होना चाहिए । जिग नियम में नदी नदी की गति रोकने के लिए गिना नही बन सकती, उमी नियम में हिंदी भी किमी मह-योगिनी का पथ अवदंड नहीं कर सकती ।

यह आत्मिभ्रम गयोग में होकर भारतीय आत्मा की महत्त्व चेतना ही है जिगसे कारण हिंदी के भावी कसंभ्य को जिन्होंने पढ़पाना के हिंदी भाषा-भाषी

नहीं थे। राजा राममोहन राय से महात्मा गांधी तक प्रत्येक सुधारक, साहित्य-कार, धर्म-संस्थापक, साधक और चिंतक हिंदी के जिस उत्तरदायित्व की ओर संकेत करता आ रहा है, उसे नतशिर स्वीकार कर लेने पर ही हिंदी लक्ष्य तक नहीं पहुंच जाएगी, क्योंकि स्वीकृति मात्र न गति है न गतव्य। वस्तुतः संपूर्ण भारत संघ को एकता के सूत्र में बांधने के लिए उसे दोहरे संबल की आवश्यकता है। एक तो आंतरिक जो मन के द्वारों को उन्मुक्त कर सके और दूसरा बाह्य जो आकार को सबल और परिचित बना सके। अन्य प्रदेशों के लोकहृदय के लिए तो वह अपरिचित नहीं है, क्योंकि दीर्घकाल से वह संत-साधकों की मर्मवानी बनकर ही नहीं, हाट बाजार की व्यवहार बोली के रूप में भी देश का कोना-कोना घूम चुकी है।

यदि आज उसे अन्य प्रदेशों से अविश्वास मिले, तो उसका वर्तमान खडि और अतीत मिथ्या हो जाएगा।

उसकी लिपि का स्वरूप भी मतभेदों का केंद्र बना हुआ है। सुदूर अतीत की ब्राह्मी से नागरी लिपि तक आते-आते उसके बाह्य रूप को समय के प्रवाह ने इतना माजा और खरीदा है कि उसे किसी बड़ी शाल्य चिकित्सा की आवश्यकता नहीं है। नाम मात्र के परिवर्तन से ही वह आधुनिक युग के मुद्रण-लेखन यंत्रों के साथ अपनी सगति बैठा लेगी; परंतु तन्त्रबन्धी विवादों ने उसका पथ प्रशस्त न करके उसके नैसर्गिक सौष्टव्य को भी कुठित कर दिया है। यदि चीनी जैसी चित्रमयी दुर्लभ लिपि अपने राष्ट्र-जीवन का संदेश वहन करने में समर्थ है, तो हमारी लिपि के मार्ग की बाधाएं दुर्लभ्य कैसे मानी जा सकती हैं। स्वतंत्रता ने हमें राजनीतिक मुक्ति देकर भी न मानसिक मुक्ति दी है और न हमारी दृष्टि को नया क्षितिज। हमारा शासन-तंत्र और उसके संचालक भी उसके अपवाद नहीं हो सकते; परंतु हमारे पथ की सबसे बड़ी बाधा यह है कि हमारी स्वतंत्र कार्य-क्षमता राज्यमुखापेक्षी होती जा रही है। पर अध-कार आलोक का त्योहार भी तो होता है। दीपक की लौ के हृदय में पड़ सकें ऐसा कोई बाण अंधेरे के तूणीर में नहीं होता। यदि हमारी आत्मा में विश्वास की निष्कप लौ है, तो मार्ग उज्ज्वल रहेगा ही।

भाषा को सीखना उसके साहित्य को जानना है, और साहित्य को जानना मानव-एकता की स्वानुभूति है। जब हम साहित्य के स्वर में बोलते हैं, तब वे स्वर दुस्तर समुद्रों पर सेतु बांधकर, दुर्लभ्य पर्वतों को राजपथ बनाकर मनुष्य की मुख-नु-ख-कथा मनुष्य तक अनायास पहुंचा देते हैं। अस्त्रों की छाया में चलने वाले अभियान निष्फल हुए हैं, चक्रवर्तियों के राजनीतिक स्वप्न टूटे हैं; पर मानव-एकता के पथ पर पड़ा कोई चरण-चिह्न अब तक नहीं मिटा है। मनुष्य को मनुष्य के निकट लाने का कोई स्वप्न अब

तक भग नहीं हुआ है।

भारत के लोक-हृदय और चेतना ने अनंत युगों में जो मातृमूर्ति गढ़ी है, वह अथर्व के पृथ्वीसूक्त से वदेमातरम् तक एब, अखंड और अक्षत रही है। उस पर कोई खरोच, हमारे अपने अस्तित्व पर चोट है।

हिंदी केवल कठ का व्यायाम न होकर हृदय की प्रेरणा बन सके तभी उसका सदेश सार्थक हो सकेगा। हम माता से जो क्षीर पाते हैं, वह उसके पार्थिव शरीर का रसमात्र न होकर आत्मा का दान भी होता है। इसी से वह हमारे शरीर का रसमात्र बनकर निःशेष नहीं हो जाता, बरन् आत्मा से मिलकर अनंत स्वप्न-सकल्पों में फूलता-फलता रहता है।

हिंदी के घरातल पर सत रविदास और भक्त सूरदास पग मिलाकर चले हैं और निर्गुणवादी कबीर और सगुणवादी तुलसी कथा मिलाकर खड़े हुए हैं।

जहां संप्रदायों की कठिन सीमाएँ भी तरल होकर मिल गईं, उसी भूमि पर भेद की कल्पित दीवारें कैसे ठहर सकेंगी Δ

भाषा का प्रश्न

भाषा मानव की सबसे रहस्यमय तथा भौतिक उपलब्धि है। वैसे बाह्य जगत भी ध्वनि-मकुल है तथा मानवजगत् को भी अपनी सुखद-दुःखद जीवन-स्थितियों को व्यक्त करने के लिए कंठ और स्वर प्राप्त हैं।

चेतन ही नहीं, जड़ प्रकृति के गत्यात्मक परिवर्तन भी ध्वनि द्वारा अपना परिचय देते हैं। यद्यथात से लेकर फूल के मिलने तक ध्वनि के जितने कठिन-कोमल आरोह-अवरोह हैं, निदाघ के हरहराते बघडर से लेकर वासंती पुलक तक सय की जो विविधतामयी मूच्छना है, उमे कौन नहीं जानता। पद्म-पक्षि-जगत के सम-विपम स्वरो की संख्यातीत गीतिमालाओ से भी हम परिचित हैं। परंतु ध्वनियों के इस सघात को हम भाषा की संज्ञा नहीं देते, क्योंकि इसमें यह अर्थवत्ता नहीं रहती, जो हृदय और बुद्धि को समान रूप से तृप्ति तथा बोध दे सके।

मानव कंठ को परिवेश विशेष में जीवनाभिव्यक्ति के लिए जो ध्वनियाँ दायभाग में प्राप्त हुई थी, उन्हें उसने अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा से सर्वथा नवीन रूपों में अवतरित किया। उसने अपनी जीवनाभिव्यक्ति ही नहीं, उसके विस्तृत विविध परिवेश को भी ऐसे शब्द-सकेतों में परिवर्तित कर लिया, जो विशेष ध्वनि मात्र से किसी वस्तु को ही नहीं, अक्षरी भाव और बोध को भी रूपायित कर सके और तब उस वाणी के द्वारा उसने अपने रागात्मक सस्कार तथा बौद्धिक उपलब्धियों को इस प्रकार सग्रहित किया कि वे प्रकृति तथा जीवन के क्षण-क्षण परिवर्तित रूपों को मानव चेतना में अक्षर निरंतरता देने की रहस्यमयी क्षमता पा सके।

मनुष्य की सर्जनात्मक अभिव्यक्ति में सबसे अधिक समर्थ और अक्षर भाषा ही होती है। वही मानव के आंतरिक तथा बाह्य जीवन के परिष्कार का आधार है, क्योंकि बौद्धिक क्रिया तथा मनोरोगों की अभिव्यक्ति तथा उनके परस्पर संबन्धों को सग्रहित करने में भाषा एक स्निग्ध किटु अटूट सूत्र का कार्य

करती है। भाषा में स्वर, अर्थ, रूप, भाव तथा बोध का ऐसा समन्वय रहता है, जो मानवीय अभिव्यक्ति को व्यष्टि से समष्टि तथा विस्तार देने में समर्थ है।

मानव व्यक्तित्व के समान ही उसकी वाणी का निर्माण दोहरा होता है। जैसे मनुष्य वा व्यक्तित्व बाह्य परिवेश के साथ उमड़े अतर्जगत के घात-प्रतिघात, अनुकूलता-प्रतिकूलता, समन्वय आदि विविध परिस्थितियों द्वारा निर्मित होता चलता है, उसी प्रकार उसकी भाषा असह्य जटिल-सरल, अतर-बाह्य प्रभावों में गल-ढलकर परिणति पाती है। कालांतर में हमारा समग्र अतर्जगत, हमारी सपूर्ण बौद्धिक तथा रागात्मक सत्ता शब्द-संकेतों से इस प्रकार संप्रथित हो जाती है कि एक शब्द-संकेत अनेक अप्रस्तुत मनोरोग जगा देने की शक्ति पा जाता है।

भाषा सीखना तथा भाषा जीना एक-दूसरे से भिन्न हैं तो आश्चर्य की बात नहीं। प्रत्येक भाषा अपने ज्ञान और भाव की समृद्धि के कारण ग्रहण करने योग्य है, अस्तु अपनी समग्र बौद्धिक तथा रागात्मक सत्ता के साथ जोना अपनी सांस्कृतिक भाषा के सदर्म में ही सत्य है। कारण स्पष्ट है। ध्वनि का ज्ञान आत्मानुभव से तथा अर्थ का बुद्धि में प्राप्त होता है। शैशव में शब्द हमारे लिए ध्वनि-संकेत मात्र होते हैं। यदि हम ध्वनि पहचानने से पहले उसके अर्थ से परिचित हो जावें तो हम सभवतः बोलना न सीख सकें।

अतः यह कहना सत्य है कि वाणी आत्मानुभूति की मौलिक अभिव्यक्ति है, जो समष्टि-भाव से अपने विस्तार के लिए भाषा का रूप धारण करती है। इसी से पाणिनि ने कहा है

'आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्यान् मनोयुक्त विवक्षया।' (आत्मा बुद्धि के द्वारा सब अर्थों का आकलन करके मन में बोलने की इच्छा उत्पन्न करती है।)

मानव व्यक्तित्व जैसे प्राकृतिक परिवेश से प्रभावित होता है, उसी प्रकार उसकी भाषा भी अपनी धरती से प्रभाव ग्रहण करती है और यह प्रभाव भिन्नता का कारण हो जाता है। परन्तु भाषा सवधी बाह्य भिन्नताएँ पर्वत की ऊँची-नीची अनमिल श्रेणियाँ न होकर एक ही सागर-तल पर बनने वाली लहरों से समानता रखती है। उनकी भिन्नता समष्टि की गति की निरंतरता बनाये रखने का लक्ष्य रखती है। उसे खंडित करने का नहीं।

प्रत्येक भाषा ऐसी त्रिवेणी है, जिसकी एक धारा व्यावहारिक जीवन के आदान प्रदान सहज करती है, दूसरी मानव के बुद्धि और हृदय की समृद्धि को अन्य मानवों के बुद्धि तथा हृदय के लिए संप्रेषणशील बनाती है और तीसरी अतः सलिला के समान किसी भेदातीत स्थिति की संयोजिका है।

हमारे विशाल देश की रूपात्मक विविधता उसकी सांस्कृतिक एकता की

पूरक रही है, उसकी विरोधिनी नहीं। इसी से विशेष जीवन-पद्धति, चिंतन, रागात्मक दृष्टि, सौंदर्यबोध आदि के सबध में तत्त्वगत एकता ने देश के व्यक्तित्व को इतने विघटनधर्मा विवर्तनों में भी सश्लिष्ट रखा है।

धरती का कोई खंड नदी, पर्वत, समतल आदि का संघात कहा जा सकता है। मनुष्यों की आकस्मिक रूप से एकत्र भीड़ मानव-समूह को संजा पा सकती है। परंतु राष्ट्र की गरिमा पाने के लिए भूमि-खंड विशेष की ही नहीं, एक सांस्कृतिक दायभाग के अधिकारी और प्रबुद्ध मानव समाज की भी आवश्यकता होती है, जो अपने अनुराग की दीप्ति से उस भूमि-खंड के हर कण को इस प्रकार उद्भासित कर दे कि वह एक चिर नवीन सौंदर्य में जीवित और लयवान हो सके।

कहने की आवश्यकता नहीं कि हिमकिरीटिनी भारत-भूमि ऐसी ही राष्ट्र-प्रतिमा है। ऐसे महादेश में अनेक भाषाओं की स्थिति स्वाभाविक है, किंतु उनमें से प्रत्येक भाषा एक वीणा के ऐसे सधे तार के समान रहकर ही सार्थकता पाती है, जो रागिनी की संपूर्णता के लिए ही अपनी झंकार में अन्य तारों से भिन्न है।

सभी भारतीय भाषाओं ने अपनी चिंतना तथा भावना की उपलब्धियों से राष्ट्र-जीवन को समृद्ध किया है। उनकी देशगत भिन्नता, उनकी तत्त्वगत एकता से प्राणवती होने के कारण महार्थ है।

ज्वाला धरती की गहराई में कोयले को हीरा बनाने की क्रिया में सलग्न रहती है और सीप जल की अतल गहनता में स्वाति की बूद से मोती बनाने की साधना करती है। न हीरक धरती की ज्वाला को साय लाता है, न मुक्ता जल की गहराई को, परन्तु वे समान रूप से मूल्यवान रहेगे।

हम जिस संक्राति के युग का अतिक्रमण कर रहे हैं, उसमें मानव जीवन की श्रासदी का कारण संवेदनशीलता का आधिक्य न होकर उसका अभाव है।

हमारी राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ हमारी मानसिक परतंत्रता का ऐसा ग्रथि-बधन हुआ है, जिसे न हम खोल पाते हैं, न काट पाते हैं। परिणामतः हमारे विक्रम के मार्ग को हमारी छाया ही अवरुद्ध कर रही है।

अतीत में हमारे देश ने अनेक अंधकार के आयाम पार किये हैं, परंतु इसके चितको, माधको तथा साहित्य स्रष्टाओं की दृष्टि के आलोक ने ही पथ की सीमाओं को उज्ज्वल रखकर उसे अंधकार में खोने से बचाया है।

भाषा ही इस आलोक के लिए संचारिणी दीपशिखा रही है। पावका नः सरस्वती △

जीने की कला

प्रत्येक कार्य के प्रतिपादन तथा प्रत्येक वस्तु के निर्माण में दो आवश्यक अंग हैं—तद्विषयक विज्ञान और उस विज्ञान का त्रियात्मक प्रयोग। बिना एव के दूसरा अंग अपूर्ण ही रहेगा, क्योंकि बिना प्रयोग के ज्ञान प्रमाणहीन है और बिना ज्ञान के प्रयोग आधारहीन—अतः प्रत्येक विज्ञान में त्रियात्मक कला का कुछ अंश अवश्य रहता है और प्रत्येक त्रियात्मक कला भी अपने विज्ञान-विशेष की अनुगामिनी बनकर ही सफल होती है। ये दोनों इतने सापेक्ष हैं कि एक को जानने में दूसरे का जानना ही पड़ता है।

यदि हम रंग और उनके मिश्रण के विषय में जान लें, तूतिका आदि के विषय में सब कुछ समझ लें, परंतु कभी इस ज्ञान को प्रयोग की बगोटी पर न रगें तो हमारा चित्रकला विषयक ज्ञान परीक्षण के बिना अपूर्ण ही रह जायेगा। इसी प्रकार यदि हम इस ज्ञान के बिना ही एकाएक रंग भरने का प्रयास करने लगे तो हमारा यह प्रयास भी असफल ही कहा जायेगा। चित्रकला की पूर्णता के लिए और सफल चित्रकार बनने के लिए हमें तत्संबंधी ज्ञानव्यय को जानकर प्रयोग में लाना ही होगा। यही अन्य कलाओं के लिए भी सत्य सिद्ध होगा।

यदि हम ध्यान से देखें तो मगार में जीना भी एक ऐसी कला जान पड़ेगा जिसमें उन्नततम दोनों मापनों का होना अनिवार्य है। सामूहिक तथा व्यक्तिगत विभाग के लिए कुछ विज्ञानों का ज्ञान जिनका आवश्यक है, उनका ही या उनमें भी कुछ अधिक आवश्यक उन विज्ञानों का उचित अवसर पर उन्मुक्त प्रयोग भी समझा जाना चाहिए। यदि हम ऐसे विज्ञानों का भार जगमगर होते रहें जिनका उन्मुक्त प्रयोग हमें ज्ञान न हो, तो हमारी दृष्टा उन्नततम के अति न होती जिसका बिना ज्ञान ही जगमग और समझपा का भार रहन करना पड़ता हो। इस प्रकार यदि हम बिना विज्ञान समझें उनका अनुन्मुक्त प्रयोग करते हैं, तो हमारी बिना बिना अर्थ समझें सबकाली शूक की बाली के समान तिरस्कृत हो उठेगी।

हमारे संस्कारों में, जीवन के लिए आवश्यक सिद्धांत ऐसे सूत्र रूप में सम जाते हैं, जो प्रयोग रूपी टीका के बिना न स्पष्ट हो पाते हैं और न उपयोगी। 'सत्यं ब्रूयात्' को हम सिद्धांत रूप में जानकर भी न अपना विकास कर सकते हैं और न समाज का उपकार, जब तक अनेक परिस्थितियों, विभिन्न स्थानों और विशेष कालों में उसका प्रयोग कर उसके वास्तविक अर्थ को न समझ लें—उनके यथार्थ रूप को हृदयगमन न कर लें।

एक निर्दोष के प्राण बचाने वाला अमृत्य उमकी अहिंसा का कारण बनने वाले सत्य से श्रेष्ठ ही रहेगा, एक क्रूर स्वामी की अन्यायपूर्ण आज्ञा को पानन करने वाले मेवक से उसका विरोध करने वाला अधिक स्वामिभक्त कहलाएगा और एक दुर्बल पर अन्याय करने वाले अत्याचारी को दामा कर देने वाले क्रोधजित से उसे दड देने वाला क्रोधी ससार का अधिक उपकार कर सकेगा। अन्य सिद्धांतों के लिए भी यही सत्य है और रहेगा।

सिद्धांतों की जितनी भारी गठरी लेकर हम अपने कर्मक्षेत्र के द्वार तक पहुंचते हैं, उतना भारी बोझ लेकर कदाचित् ही किसी अन्य देश के व्यक्ति को पहुंचना पड़ता हो, परंतु फिर भी कार्यक्षेत्र में हमी सबसे अधिक निष्क्रिय प्रमाणित होंगे। कारण, हम अपने सिद्धांतों को उपयोग से बचा-बचाकर उसी प्रकार रखने में उद्देश्य की सिद्धि समझ लेते हैं, जिस प्रकार धन को व्यय से बचाकर रखने वाले कृपण उसके सचय में ही अपने उद्योग की चरम सफलता देख लेते हैं।

परिस्थिति, काल और स्थान के अनुसार उनके प्रयोग तथा रूपों के विषय में जानने का न हमें अवकाश है न इच्छा। फल यह हुआ कि हमारा जीवन अपूर्ण वस्तुओं में सबसे अधिक अपूर्ण होने का दुर्भाग्य मात्र प्राप्त कर सका।

आज तो जीने की कला न जानने का अभिशाप देश-व्यापक है, परंतु विशेष रूप से स्त्रियों ने इस अभिशाप के कारण जो कुछ सहा है उसे सहकर जीवित रहने का अभिमान करने वाले विरले ही मिलेंगे। यह सत्य है कि हमारे देश में व्यक्ति को इतना महत्त्व दिया गया था कि कहीं-कहीं हमें उसके विकास के साधन भी एक विचित्र बंधन जैसे लगने लगते हैं। परंतु यह कहना अन्याय होगा कि उन प्राचीन युग के निवासियों ने व्यक्तिगत विकास को दृष्टिबिंदु बनाकर सामूहिक या सामाजिक विकास को एक क्षण के लिए भी दृष्टि से ओझल होने दिया। उनका जीवन-विषयक ज्ञान कितना वैयक्तिक किंतु व्यापक, स्थिर किंतु प्रत्येक परिस्थिति के अनुकूल और एक किंतु सामूहिक था, इसका प्रमाण हमें उन सिद्धांतों में मिल जाता है जिनके आकर्षण से हम अपनी अज्ञानावस्था में भी नहीं छूट पाते और इस ज्ञान का उन्होंने कौता उपयुक्त तथा प्रगतिशील प्रयोग किया, यह समाज के निर्माण और व्यक्ति के जीवन के पूर्ण विकास को दृष्टि में रखकर

सोने गए साधनों से स्पष्ट हो जाता है। यदि हम शताब्दियों से केवल सिद्धांतों का निर्जोव भार लिए हुए सिधिल हो रहे हैं तो इसमें हमारा और हमारी परिस्थितियों का दोष है। यदि हम अपने जीवन को सजीव और सक्रिय बनाना चाहते, अपनी विशेष परिस्थितियों में उनका प्रयोग कर उनकी सामयिक अनुकूलता-प्रतिकूलता, उपयुक्तता, अनुपयुक्तता का निश्चय कर लेते और जीवन के ज्ञान और उसने क्रियात्मक प्रवाह को साथ बहने देते तो अवश्य ही हमारा जीवन उत्कृष्ट कला का निदर्शन होता।

हमने जीवन को उचित कार्य से विरत कर उसी के व्यवस्थापक नियमों को अपने पैर की बोटियाँ बनाकर उन्हें भी भारी बना डाला, अतः आज यदि लक्ष्य तक पहुँचने की इच्छा भी भूल गये तो आश्चर्य ही क्यों होना चाहिए!

इस समय भारतीय नारी के पास ऐमा कौन-सा विशिष्ट गुण नहीं है, जिसे पाकर किसी भी देव की मानवी देवी न बन सकनी हो। उद्यम उग्र महानशक्ति की सीमा समाप्त है जिसके द्वारा मनुष्य घोर से घोरतर अग्निपरीक्षा हसते-हसते पार कर सकता है और अपने लक्ष्य के मार्ग में बाधाओं पर बाधाएं देख-कर नहीं सिहरता, उसमें यह त्याग है जो मनुष्य की दुष्ट-ने-शुद्ध स्वार्थवृत्ति को क्षण में नष्ट कर डालता है और उसे अन्य के कर्त्य-पार्थ अपनी आहुति के लिए प्रस्तुत कर देना है, उसमें मनुष्य को देवता की पवित्र मंडला देने वाली वह पवित्रता है, जो मरना नहीं जानती तथा उसमें हमारी मस्तिष्क का वह कोप है जिसकी किमी अन्य के द्वारा रक्षा संभव ही नहीं थी। यह आज भी त्यागमयी माता, पतिव्रता पत्नी, स्नेहमयी बहिन और आजाकारिणी पुत्री है, जब संसार के जागृत देवता की स्थिति भौतिक गुणभोग पर अपनी युगजीर्ण मस्तिष्क न्योछाकर बिये द रही है। इन्हें त्याग के, बलिदान के और स्तुति के नाम पर सब कुछ जाना है, परंतु जीवन की वह कला नहीं जानी जो इन अतीतिक गुणों को सजीव कर देगी।

श्रीमं-श्रीमं कुटीर में बगने बानों में भी बनाबित् ही कोई ऐमा अभाग्य निर्धन होगा, जिसके उजड़े आंगन में एव भी महानोभा, त्यागमयी, ममतामयी स्त्री न हो।

स्त्री जिस प्रकार अपने हृदय को चूर-चूर कर पत्थर की देव-प्रतिमा बन सकती है, वह देवता हो तो त्रि-दूरत की दुःखमयी बलिदान में त्यागमयी पुत्री में परिवर्तित होरी हुई विधवा की देवता बलिदान को किमी अज्ञान व्यक्ति के लिए अपने हृदय की, हृदय के समान ही जिस दुःख-दुःखनकर निर्मूलक कर देगी है, गीतक और समय के नाम पर अपने लकीर और मात की अमनुषिक व्यवस्थाओं के महो का अज्ञान बना लेगी है और इस पर भी दुतरों के अज्ञान के धय में बालों में दो बूट बन भी इच्छा-दुःखर नहीं जाने दे सकती।

अर्धांगिनी की विडंबना का भार लिए, सीता सावित्री के अलौकिक तथा पवित्र आदर्श का भार, अपने भेदे हुए जीर्ण-शीर्ण स्त्रीत्व पर किसी प्रकार संभालकर श्रीतदासी के समान अपने मरण, दुराचारी तथा पशु में भी निकृष्ट स्वामी की परिचर्या में लगी हुई और उमके दुर्व्यवहार को सहकर भी देवताओं से जन्म-जन्मांतर में उगी का सग पाने का वरदान मागने वाली पत्नी को देखकर कौन आश्चर्याभिभूत न हो उठेगा ? पिता के इगित मात्र से अपने जीवन-प्रभात में देखे रंगीन स्वप्नों को विस्मृति से ढंककर बिना एक दीर्घ निःश्वाम लिए अयोग्य-से-अयोग्य पुरुष का अनुगमन करने को प्रस्तुत पुत्री को देखकर किमका हृदय न भर आवेगा ? पिता की अट्टालिका और वैभव से वचित दरिद्र भगिनी को ऐश्वर्य का उपभोग करने वाले भाई की कलाई पर मरल भाव से रक्षावधन बांधते देख कौन विश्वास कर सकेगा कि ईर्ष्या भी मनुष्य का स्वाभाविक विकार है और अनेक साहसहीन निर्जीव-से पुत्रों द्वारा उपेक्षा और अनादर से आहत हृदय से, उनके मुख के प्रयत्न में लगी हुई माता को देख कौन 'क्वचित् कुमाता न भवति' कहने वाले को स्त्री-स्वभाव के गभीर रहस्य का अन्वेषक न मान लेगा ? परंतु इतनी अधिक सहनशक्ति, ऐसा अप्रतिम त्याग और ऐसा अलौकिक साहम देखकर भी देखने वाले के हृदय में यह प्रश्न उठे बिना नहीं रहता कि क्या ये विभूतिया जीवित हैं ? यदि सजीवता न हो, विवेक के चिह्न न हों, तो इन गुणों का मूल्य ही क्या है ? क्या हमारे कोलू में जुता बल कम सहनशील है ? कम यंत्रणाए भोगता है ? शव हमारे द्वारा किये गये किसी अपमान का प्रतिकार नहीं कर सकता, सब प्रकार के आघात बिना हिले-डुले शांति से सह सकता है, हम चाहे उसे अतल जल में बहाकर मगरमच्छ के उदर में पहुँचा दें, चाहे चिता पर लिटाकर राख करके हवा में उड़ा दें, परंतु उसके मुख से न निःश्वाम निकलेगी, न आह, न निरंतर खुली पथराई आँखों में जल आवेगा, न अंग कंपित होंगे ! परंतु क्या हम उसकी निष्क्रियता की प्रशंसा कर सकेंगे ?

आज हिंदू स्त्री भी शव के समान ही निरपंद है। मस्कारों ने उसे पक्षाघात के रोगी के समान जड़ कर दिया है, अतः अपने सुख-दुःख को चेष्टा द्वारा प्रकट करने में भी वह असमर्थ है।

इसके अतिरिक्त ऐसी सीमातीन सहिष्णुता की प्रशंसा सुनते-सुनते वह अब इसे अपने मर्म का आवश्यक अंग समझने लगी है।

जीवन को पूर्ण-से-पूर्ण रूप तक विकसित कर देने योग्य सिद्धांत उसके पास हैं, परंतु न उनका परिस्थिति-विशेष में उचित उपयोग ही वह जानती है और न उनका अर्थ ही समझती है, अतः जीवन और सिद्धांत दोनों ही भार होकर उसे वैसे ही संज्ञाहीन किये दे रहे हैं, जैसे ग्रीष्म की कड़ी धूप में शीतकाल के

भारी और गर्म वस्त्र पहने हुए पथिक को उसका परिधान । जीवन को अपने साचे में ढालकर सुंदर और सुडौल बनाने वाले सिद्धान्तों ने ही अपने विपरीत उपयोग से भार बनकर उसके सुन्दर जीवन को उमी प्रकार कुरूप और वामन बना डाला है जिस प्रकार हाथ का सुंदर कर्कण चरण में पहना जाने पर उसकी वृद्धि को रोककर उसे कुरूप बना देता है ।

हिंदू समाज ने उसे अपनी प्राचीन गौरव-गाथा का प्रदर्शन मात्र बनाकर रख छोड़ा है । और वह भी मूक निरोह भाव से उसकी वहन करती जा रही है । शताब्दियों पर शताब्दियां बीती चली जा रही हैं, समय की लहरों में परिवर्तन पर परिवर्तन बहते आ रहे हैं, परिस्थितियां बदल रही हैं, परंतु समाज केवल स्त्री को, जिसे उसने दासता के अतिरिक्त और कुछ देना नहीं सीखा, प्रलय की उथल-पुथल में भी शिला के समान स्थिर देखना चाहता है । ऐसी स्थिरता मृत्यु का शृंगार हो सकती है, जीवन का नहीं । अवश्य ही मृत्यु में भी एक सौंदर्य है, परंतु वह जीवन के रिक्त स्थान को तो नहीं भर सकता ।

धन की प्रभुता या पूजीवाद जितना गहिर्त है उतना ही गहिर्त रूप धर्म और अधिकार का हो सकता है, फिर उसके विषय में तो कहना ही व्यर्थ है जिसे धन, धर्म और अधिकार तीनों प्रकार की प्रभुता प्राप्त हो चुकी है ।

समाज में उपार्जन का उत्तरदायित्व मिल जाने से पुरुष का एक प्रकार का पूजीपतित्व तो प्राप्त हो ही गया था, शक्ति अधिक होने के कारण अधिकार मिलना भी सहज-प्राप्य हो गया । इसके अतिरिक्त शास्त्र तथा अन्य सामाजिक नियमों का निर्माता होने के कारण वह अपने-आपको अधिक-से-अधिक स्वच्छंद और स्त्री को कठिन-से-कठिन बंधन में रखने में समर्थ हो सका ।

धीरे-धीरे बनते-बनते स्त्री को बाध रखने का सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक उपकरणों से बना हुआ यंत्र इतना पूर्ण और इतना सफलता-युक्त सक्रिय हो उठा कि उसमें ढलकर स्त्री केवल सफल दासी के रूप में ही निकलने लगी । न उसकी मानसिक दासता में कोई अभाव या न्यूनता थी और न शारीरिक दासता में—विद्रोह तो क्या अपनी स्थिति के विषय में प्रश्न करना भी उसके लिए जीवन में यंत्रणा और मृत्यु के उपरांत नरक मिलने का साधन था । आज यंत्रों के युग में भी दासत्व के इस पुराने परंतु दृढ़ यंत्र के निर्माण-कौशल पर हमें विस्मित होना पड़ता है, क्योंकि इसमें मूक यंत्रणा सहने वाला व्यक्ति ही सहायता देने वाले के कार्य में बाधा डालता रहता है । मनुष्य को न नष्ट कर उसकी मनुष्यता को इस प्रकार नष्ट कर देना कि वह उस हानि को जीवन का सबसे उज्ज्वल, सबसे बहुमूल्य और सबसे आवश्यक लाभ समझने लगे, असंभव नहीं तो कठिनतम प्रयास साध्य अवश्य है । प्रत्येक बालिका उत्पन्न होने के साथ ही अपने-आपको ऐसे पराये घर की वस्तु मानने और बनने लगती है जिसमें न

जाने की इच्छा करना भी उसके लिए पाप है। विवाह के व्यवसाय में उसकी विद्या पासंग बने हुए डेले के समान है, जो तुना को दोनों ओर समान रूप से गुरु कर देता है, कुछ उसके मानसिक विकाम के लिए नहीं। उसकी योग्यता, उसकी कला पति के प्रदर्शन तथा गर्व की वस्तु है, उसे सत्य शिवं सुंदरम् तक पहुंचने का माधन नहीं; उसके कोमलता, करुणा, आज्ञाकारिता, पवित्रता आदि गुण उसे पुरुष की इच्छानुकूल बनाने के लिए आवश्यक हैं, ममार पर कल्याण-वर्षा के लिए नहीं। न स्त्री को अपने जीवन का कोई लक्ष्य बनाने का अधिकार है और न समाज द्वारा निर्धारित विधान के विरुद्ध कुछ कहने का। उमका जीवन पुरुष के मनोरंजन तथा उमकी वशवृद्धि के लिए इस प्रकार चिरनिवेदित हो चुका है कि उसकी सम्मति पूछने की आवश्यकता का अनुभव भी किसी ने नहीं किया। वातावरण भी धीरे-धीरे उसे ऐसे ही मूक आज्ञा-पालन के लिए प्रस्तुत करता रहता है। गृहिणी का कर्तव्य कम महत्त्वपूर्ण नहीं यदि वह साधिकार और स्वेच्छा से स्वीकृत हो। जिह गृह को बचपन से उसका लक्ष्य बनाया जाता है यदि उस पर उसे अन्न-वस्त्र पाने के अतिरिक्त कोई और अधिकार भी होता, जिस पुरुष के लिए उसका जीवन एकांत रूप से निवेदित है यदि उसके जीवन पर उसका भी कोई स्वत्व होता, तो यह दासता स्पृहणीय प्रमुता बन जाती। परंतु जिस गृह के द्वार पर भी वह बिना गृहपति की आज्ञा के पैर नहीं रख सकती, जिस पुरुष के घोर-से-घोर अन्याय, नीच-से-नीच आचरण के विरोध में दो शब्द कहना भी उसके लिए अपराध हो जाता है, उम गृह को बंदीगृह और पुरुष को कारारक्षक के अतिरिक्त वह और क्या समझे!

इसमें सदेह नहीं कि ऐसी परिस्थिति का कुछ उत्तरदायित्व स्त्री पर भी है, क्योंकि उसे जीने की कला नहीं आती, केवल युगयुगांतर से चले जाने वाले सिद्धांतों का भार लेकर वह स्वयं ही अपने लिए भार ही उठी है।

मनुष्यता के ऊपर की स्थिति को अपना लक्ष्य बनाने से प्रायः मनुष्य देवता का पापाण-प्रतिमा बनकर रह जाता है और इसके विपरीत मनुष्य से नीचे उतरना पशु की श्रेणी में आ जाता है। एक स्थिति मनुष्य में ऊपर होने पर भी निष्क्रिय है, दूसरी इससे नीची होने के कारण मनुष्यता का फलक है। अतः दोनों ही स्थितियों में मनुष्य का पूर्ण विकास संभव नहीं। हमारे समाज में अपने स्वार्थ के कारण पुरुष मनुष्यता का फलक है और स्त्री अपनी अज्ञानमय निस्पर्द सहिष्णुता के कारण पापाण-सी उपेक्षणीय—दोनों के मनुष्यत्व-युक्त मनुष्य हो जाने से ही जीवन की कला विकाम या सकेयी जिमका ध्येय मनुष्य की सहानुभूति, सक्रियता, स्नेह आदि गुणी को अधिक-से-अधिक व्यापक बना देना है।

जीवन को विकृत न बनाकर उसे सुंदर और उपयोगी रूप देने के इच्छुक

को अपने सिद्धांतों से सबध रखने वाली अतर्मुखी तथा उन सिद्धांतों के सक्रिय रूप से सबध रखने वाली बहिर्मुखी शक्तियों को पूर्ण विकास की सुविधाएँ देनी ही पड़ेंगी। वही वृक्ष पृथ्वीतल पर बिना अवलंब के अकेला खड़ा रहकर भ्रम के प्रहारों को मलय-समीर के झोंकों के समान सहकर भी हरा-भरा फल-फूल से युक्त रह सकेगा, जिसकी मूल-स्थिति शक्तियाँ विकसित और सबल हैं और उसी की मूल-स्थिति दृढ़ रह सकती है जो धरातल से बाहर स्वच्छंद वातावरण में सास लेता है। जब बहिर्मुखी शक्तियाँ भी अतर्मुखी हो जाती हैं तब बाह्य सक्रियता नष्ट हुए बिना नहीं रहती। आज चाहे हमारी आध्यात्मिकता भीतर-ही-भीतर पाताल तक फँस गई हो, परंतु जीवन का व्यावहारिक रूप विकृत-सा होता जा रहा है। जीवन का चिह्न केवल काल्पनिक स्वर्ग में विचरण नहीं है किंतु ससार के कटकाकीर्ण पथ को प्रशस्त बनाना भी है। जब तक बाह्य तथा आंतरिक विकास सापेक्ष नहीं बनते, हम जीना नहीं जान सकते।

जाने की इच्छा करना भी उसके लिए पाप है। विवाह के व्यवसाय में उसकी विद्या पासग बने हुए देले के समान है, जो तुला को दोनों ओर समान रूप से गुरु कर देता है, कुछ उसके मानसिक विकास के लिए नहीं। उसकी योग्यता, उसकी कला पति के प्रदर्शन तथा गर्व की वस्तु है, उसे सत्य निर्वं सुंदरम् तक पहुंचने का माधन नहीं; उसके कोमलता, करुणा, आज्ञाकारिता, पवित्रता आदि गुण उसे पुरुष की इच्छानुकूल बनाने के लिए आवश्यक हैं, संसार पर कल्याण-वर्षा के लिए नहीं। न स्त्री को अपने जीवन का कोई लक्ष्य बनाने का अधिकार है और न समाज द्वारा निर्धारित विधान के विरुद्ध कुछ कहने का। उसका जीवन पुरुष के मनोरंजन तथा उसकी वनावृद्धि के लिए इस प्रकार चिरनिवेदित हो चुका है कि उसकी सम्मति पूछने की आवश्यकता का अनुभव भी किसी ने नहीं किया। यातावरण भी धीरे-धीरे उसे ऐसे ही मूक आज्ञा-पालन के लिए प्रस्तुत करता रहता है। गृहिणी का कर्तव्य कम महत्त्वपूर्ण नहीं यदि वह साधिकार और स्वेच्छा से स्वीकृत हो। जिह गृह को बचपन से उसका लक्ष्य बनाया जाता है यदि उस पर उसे अन्न-वस्त्र पाने के अतिरिक्त कोई और अधिकार भी होता, जिस पुरुष के लिए उसका जीवन एकांत रूप से निवेदित है यदि उसके जीवन पर उसका भी कोई स्वत्व होता, तो यह दासता स्पृहणीय प्रमुता बन जाती। परंतु जिस गृह के द्वार पर भी वह बिना गृहपति की आज्ञा के पैर नहीं रख सकती, जिस पुरुष के घोर-से-घोर अग्याय, नीच-से-नीच आचरण के विरोध में दो शब्द कहना भी उसके लिए अपराध हो जाता है, उस गृह को बंदीगृह और पुरुष को कारारक्षक के अतिरिक्त वह और क्या समझे!

इसमें संदेह नहीं कि ऐसी परिस्थिति का कुछ उत्तरदायित्व स्त्री पर भी है, क्योंकि उसे जीने की कला नहीं आती, केवल युगयुगांतर से चले आने वाले सिद्धांतों का भार लेकर वह स्वयं ही अपने लिए भार हो उठी है।

मनुष्यता के ऊपर की स्थिति को अपना लक्ष्य बनाने से प्रायः मनुष्य देवता का पापाण-प्रतिमा बनकर रह जाता है और इसके विपरीत मनुष्य से नीचे उतरना पशु की श्रेणी में आ जाना है। एक स्थिति मनुष्य से ऊपर होने पर भी निष्क्रिय है, दूसरी इससे नीची होने के कारण मनुष्यता का कलक है। अतः दोनों ही स्थितियों में मनुष्य का पूर्ण विकास संभव नहीं। हमारे समाज में अपने स्वायं के कारण पुरुष मनुष्यता का कलक है और स्त्री अपनी अज्ञानमय निस्पंद सहिष्णुता के कारण पापाण-सौ उपेक्षणीय—दोनों के मनुष्यत्व-युक्त मनुष्य हो जाने से ही जीवन की कला विकास पा सकेगी जिसका ध्येय मनुष्य की सहानुमति, सक्रियता, रनेह आदि गुणों को अधिक-से-अधिक व्यापक बना देना है।

जीवन को विकृत न बनाकर उसे सुंदर और उपयोगी रूप देने के इच्छुक

जो अपने सिद्धांतों से सबध रखने वाली अतर्मुखी तथा उन सिद्धांतों के सक्रिय रूप में सबध रखने वाली बहिर्मुखी शक्तियों को पूर्ण विकास की सुविधाएं देनी ही पड़ेगी। वही वृक्ष पृथ्वीतल पर बिना अवलंब के अकेला खड़ा रहकर ऋग्ना के प्रहारों को मलय-समीर के झोंकों के समान सहकर भी हरा-भरा फल-फूल में युक्त रह सकेगा, जिसकी मूल-स्थिति शक्तिशाली विकसित और सबल है और उसी की मूल स्थिति दृढ़ रह सकती है जो घरातल से बाहर स्वच्छंद वातावरण में सास लेता है। जब बहिर्मुखी शक्तियां भी अतर्मुखी हो जाती हैं तब बाह्य सक्रियता नष्ट हुए बिना नहीं रहती। आज चाहे हमारी आध्यात्मिकता भीतर-ही भीतर पाताल तक फील गई हो, परंतु जीवन का व्यावहारिक रूप विकृत-सा होता जा रहा है। जीवन का चिह्न केवल काल्पनिक स्वर्ग में विचरण नहीं है किंतु संसार के कटककाकीर्ण पथ को प्रगस्त बनाना भी है। जब तक बाह्य तथा आंतरिक विकास सापेक्ष नहीं बनते, हम जीना नहीं जान सकते।